चारित्र सार

श्री मच्चामुण्डराय विरचित

[हिन्दी अनुवाद सहित]

प्रकाशक :

आचार्य कल्प १०८ श्री श्रुतसागर ग्रन्थमाला

श्री शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान

श्री महावीर जी - ३२२ २२१

फोन : ०७४६९-२४४८२, २४३३४

॥ श्री शान्तिनाथाय नम॰ ॥

श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी

संक्षिप्त परिचय

राजस्थान की राजधानी जयपुर से करीब १४० कि मी. दूर जिला करौली में श्री महावीरजी की पुण्यधरा पर गम्भीरी नदी के पूर्वी तट पर "श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान का कार्यालय" स्थित है। इस संस्थान का नामकरण परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (दक्षिण) तथा आपके पट्टाधीश एवं प्रथम शिष्य परमपूज्य आचार्य १०८ श्री वीरसागर जी महाराज के नाम पर "शान्तिवीर" दिगम्बर जैन संस्थान रखा गया है। इस संस्थान के प्रधान संस्थापक परम विद्वान् सप्तम प्रतिमाधारी ब्र. प श्री लालाजी थे। प्रारम्भ मे इस संस्थान का कार्य ब्र कृष्णाबाई जी के आश्रम से प्रारम्भ हुआ एवं सन् १९६१ मे एक प्रेस को कलकत्ता से श्री महावीर जी लाकर इस आश्रम से ही कई जैन शास्त्रों एवं पुराणों का प्रकाशन हुआ। तद्नतर ब्र श्री लालाजी ने गम्भीर नदी के पूर्वी तट पर दातारो से दान के रूप में आर्थिक सहायता प्राप्त करके इस सस्थान के लिए जमीन खरीदी एवं धीरे-धीरे भवन तथा कमरो का निर्माण करवाया। इसी भवन में प्रेस लगाई जिससे कुछ समय तक 'श्रेयोमार्ग' नामक पत्र भी प्रकाशित हुआ। जिसके प्रधान सम्पादक मूर्धन्य विद्वान् ब्र प खूबचन्द जी शास्त्री इन्दौर एवं स्व ब्र पं श्री लालजी शास्त्री, ब्र पं श्री सूरजमलजी बाबाजी भी रहे थे। श्रेयामार्ग पत्र की करीब ५,००० प्रतियां छपकर पूरे देश मे जाती थी एवं अहिसा धर्म का प्रचार-प्रसार करती थी।

श्रेष्ठी एवं श्रावको के सहयोग एवं आचार्यो व मुनिराजों के आशीर्वाद से यह सस्थान निरन्तर प्रगति करता रहा एवं आर्थिक सहयोग भी प्रचुर मात्रा में मिलता रहा। जिसके परिणाम स्वरूप संस्थान नये-नये कार्यो को आगे बढाता रहा। इसी क्रम मे अनेको सुन्दरतम् प्रतिमाओं का निर्माण भी होता रहा और सन् १९६५ मे आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के ससंघ पावन सान्निध्य में पंचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन हुआ जिसमे आचार्य कल्प श्रेयांस सागर जी महाराज सहित एवं अनेक मुनि दीक्षा एवं २० आर्यिका माताओ को दीक्षा भी प्रदान की गई।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सानन्द सम्पन्न होने के कुछ समय बाद प्रथम संस्थापक ब्र. लालजी का समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् इस संस्थान का कार्य ब्र लाडमल जी एवं ब्र सूरजमलजी बाबाजी ने संभाला एव समय के साथ-साथ संस्थान का कार्य भी आगे बढ़ता गया। दानी दाताओ के प्रदत्त सहयोग से २६ फुट उन्नत विशालकाय १००८ श्री शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा तथा शांतिनाथ भगवान के दोनो तरफ तलघर मे १००८ श्री महावीर स्वामी की ५ फुट उन्नत प्रतिमा, सहस्त्रकूट चैत्यालय जिसमें १००८ प्रतिमाएं उकैरी गई एवं तीन-तीन फुट ऊंची चौबीसी का निर्माण हुआ जिसको दर्शनीय स्वरूप प्रदान किया। वि सं २०२२ मे यात्रा से आकर संघ ने यहां वर्षायोग धारण किया एवं उन्हीं के पावन सान्निध्य मे दूसरे पंचकल्याण की योजना प्रारम्भ हुई। किन्तु दुर्भाग्यवश प्रतिष्ठा के १० दिन पूर्व फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को आचार्य श्री दिवगंत हो गये। प्रतिष्ठा पूर्ववत् विशाल रूप से ही सम्पन्न हुई।

इसी शुभावसर पर परमपूज्य मुनि १०८ श्री धर्मसागर जी महाराज को तपकल्याण के दिन आचार्य श्री के पट्ट पर आसीन किया गया एव वर्तमान मे आचार्य वर्धमान सागर जी महाराज सहित मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक आदि की ग्यारह दीक्षाए सम्पन्न हुई। कुछ समय पश्चात् सुजानगढ निवासी रायसहाब चादमलजी

□ प्रथम सस्करण :
महावीर जयन्ती, वीर सं २५२५

□ प्रथम आवृत्ति :
१००० प्रतियां

□ सहयोग राशि :
३०.०० रुपये मात्र

□ प्रकाशक :
आचार्य कल्प १०८ श्री श्रुतसागर ग्रन्थमाला
श्री शातिवीर नगर,
श्री महावीर जी–३२२ २२१
फोन · ०७४६९–२४४८२, २४३३४

□ पुस्तक प्रकाशन मे सहयोग :
श्रीमति पांची बाई धर्मपत्नी स्व श्री गोपाल लाल जी पसारी जौहरी, जयपुर
श्रीमति कम्पन देवी धर्मपत्नी श्रीमान् हरीशचन्द जी टकसाली, जयपुर
श्रीमति शान्ति देवी धर्मपत्नी श्री प्रीतम कुमार जी पसारी
श्रीमति मुन्ना देवी जी गर्ग

□ मुद्रक ·
श्री प्रिण्टर्स प्रा लि
जी–१३९, मालवीया औ क्षेत्र
जयपुर–३०२ ०१७
फोन : ५२१६२०, ५६१३२१

॥ श्री शान्तिनाथाय नमः॥

श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी

संक्षिप्त परिचय

राजस्थान की राजधानी जयपुर से करीब १४० कि मी दूर जिला करौली में श्री महावीरजी की पुण्यधरा पर गम्भीरी नदी के पूर्वी तट पर ''श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान का कार्यालय'' स्थित है। इस संस्थान का नामकरण परमपूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (दक्षिण) तथा आपके पट्टाधीश एवं प्रथम शिष्य परमपूज्य आचार्य १०८ श्री वीरसागर जी महाराज के नाम पर ''शान्तिवीर'' दिगम्बर जैन संस्थान रखा गया है। इस सस्थान के प्रधान संस्थापक परम विद्वान् सप्तम प्रतिमाधारी ब्र प श्री लालाजी थे। प्रारम्भ मे इस संस्थान का कार्य ब्र कृष्णाबाई जी के आश्रम से प्रारम्भ हुआ एव सन् १९६१ में एक प्रेस को कलकत्ता से श्री महावीर जी लाकर इस आश्रम से ही कई जैन शास्त्रों एवं पुराणो का प्रकाशन हुआ। तद्नंतर ब्र श्री लालाजी ने गम्भीर नदी के पूर्वी तट पर दातारों से दान के रूप में आर्थिक सहायता प्राप्त करके इस सस्थान के लिए जमीन खरीदी एवं धीरे-धीरे भवन तथा कमरो का निर्माण करवाया। इसी भवन मे प्रेस लगाई जिससे कुछ समय तक 'श्रेयोमार्ग' नामक पत्र भी प्रकाशित हुआ। जिसके प्रधान सम्पादक मूर्घन्य विद्वान् ब्र प खूबचन्द जी शास्त्री इन्दौर एवं स्व ब्र पं. श्री लालजी शास्त्री, ब्र पं श्री सूरजमलजी बाबाजी भी रहे थे। श्रेयामार्ग पत्र की करीब ५,००० प्रतियां छपकर पूरे देश मे जाती थी एवं अहिंसा धर्म का प्रचार-प्रसार करती थी।

श्रेष्ठी एवं श्रावको के सहयोग एवं आचार्यो व मुनिराजो के आशीर्वाद से यह संस्थान निरन्तर प्रगति करता रहा एवं आर्थिक सहयोग भी प्रचुर मात्रा मे मिलता रहा। जिसके परिणाम स्वरूप संस्थान नये-नये कार्यो को आगे बढाता रहा। इसी क्रम मे अनेकों सुन्दरतम् प्रतिमाओं का निर्माण भी होता रहा और सन् १९६५ मे आचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के ससंघ पावन सान्निध्य मे पंचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन हुआ जिसमे आचार्य कल्प श्रेयांस सागर जी महाराज सहित एवं अनेक मुनि दीक्षा एवं २० आर्यिका माताओ को दीक्षा भी प्रदान की गई।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के सानन्द सम्पन्न होने के कुछ समय बाद प्रथम संस्थापक ब्र लालजी का समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् इस संस्थान का कार्य ब्र लाडमल जी एवं ब्र सूरजमलजी बाबाजी ने संभाला एवं समय के साथ-साथ सस्थान का कार्य भी आगे बढता गया। दानी दाताओ के प्रदत्त सहयोग से २६ फुट उन्नत विशालकाय १००८ श्री शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा तथा शातिनाथ भगवान के दोनो तरफ तलघर में १००८ श्री महावीर स्वामी की ५ फुट उन्नत प्रतिमा, सहस्त्रकूट चैत्यालय जिसमें १००८ प्रतिमाए उकेरी गई एवं तीन-तीन फुट ऊंची चौबीसी का निर्माण हुआ जिसको दर्शनीय स्वरूप प्रदान किया। वि स २०२२ मे यात्रा से आकर संघ ने यहां वर्षायोग धारण किया एवं उन्हीं के पावन सान्निध्य मे दूसरे पचकल्याण की योजना प्रारम्भ हुई। किन्तु दुर्भाग्यवश प्रतिष्ठा के १० दिन पूर्व फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को आचार्य श्री दिवगंत हो गये। प्रतिष्ठा पूर्ववत् विशाल रूप से ही सम्पन्न हुई।

इसी शुभावसर पर परमपूज्य मुनि १०८ श्री धर्मसागर जी महाराज को तपकल्याण के दिन आचार्य श्री के पट्ट पर आसीन किया गया एव वर्तमान मे आचार्य वर्धमान सागर जी महाराज सहित मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक आदि की ग्यारह दीक्षाएं सम्पन्न हुई। कुछ समय पश्चात् सुजानगढ़ निवासी रायसहाब चांदमलजी

पाडया द्वारा प्रदत्त दान से ६१ फुट उन्नत संगमरमर का विशाल मानस्तम्भ जिसमे ४ प्रतिमाएं नीचे एव ४ प्रतिमाए ऊपर ऐसी कुल ८ प्रतिमाए १००८ चन्द्रप्रभु भगवान की विराजमान है जिसके चारो ओर जैन धर्म से सम्बन्धित कई प्रसंगो को उकेरा गया है। उक्त मानस्तम्भ एवं प्रतिमओ की बाद मे सानन्दपूर्वक पचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई गई।

सस्थान ने जहा नवनिर्मित प्रतिमाओ एव यात्रियो की सुविधा के लिए आवास योजनाओ को मूर्तरूप दिया, उसी क्रम मे उन्होने एक गुरुकुल की स्थापना एवं योजना को भी साकार रूप प्रदान किया जिसका दिगम्बर जैन समाज भरपूर लाभ प्राप्त कर रहा है। गुरुकुल मे छात्र नि·शुल्क धार्मिक एवप लौकिक शिक्षा प्राप्त करते हे जो दानदातारो से प्राप्त सहयोग से ही सभव हो पाता है।

सन् १९९१ मे शातिवीर दिगम्बर जैन सस्थान मे अष्ट धातु से निर्मित प छोटेलाल जी बरैया द्वारा प्रदत्त तीन खड्गासन प्रतिमाओ का पचकल्याण प्रतिष्ठा महोत्सव आचार्य सुबाहु सागर जी महाराज के पावन सान्निध्य मे सम्पन्न हुआ।

इतिहास समय समय पर करवटे बदलता रहा है और उसी क्रम मे एक हादसा १९९५ अक्टूबर माह को ऐसा हुआ जिसने सभी को चकित कर दिया। सस्थान मे स्थित जिन मंदिर मे हो रहे जीर्णोद्धार के समय यकायक मन्दिर जी धराशाही हो गया। सुखद बात यह रही की इस भीषण हादसे के पश्चात् भी जिन मूर्तियो को किसी भी तरह की क्षति नही पहुंची। केवल क्षेत्रपाल बाबा की मूर्ति को ही क्षति पहुची जिससे ऐसा आभास हुआ कि जैसे क्षेत्रपाल बाबा ने ही सारा उपसर्ग अपने ऊपर ले लिया हो। इस घटना के पश्चात् सस्थान के ट्रस्ट कमेटी की एक आकस्मिक मीटिग बुलाई गई। जिसमे विस्तृत विचार विमर्श के पश्चात् ब्र सूरजमल जी बाबाजी के सुझाव एव भावनानुसार उसी स्थान पर नवीन जिन मन्दिर बनाने का निश्चय किया गया एव सस्थान के युवा ट्रस्टी श्री राजकुमार जी कोठ्यारी को यह जिम्मेदारी सोपी गई। जिसको तुरन्त ही दानदाताओ के सहयोग से निर्माण कार्य योजनानुसार प्रारम्भ कर अल्प समय मे ही अपनी अथक मेहनत एव सुचारु रूप से वास्तुविदो की सहायता से जिन मन्दिर को भव्य एव नवीन रूप प्रदान किया। जिस नवीन जिन मन्दिर की नीव का ब्र सूरजमलजी बाबाजी द्वारा लगाई गई वे भी हमे बीच समय मे ही छोड़कर ससार से परलोक सिधार गये। उनकी इस अकल्पनीय मेहनत को हम कभी भी नही भुला सकेगे।

जनवरी १९९९ मे वह घड़ी भी आई जब परमपूज्य १०८ आचार्य श्री वर्धमान सागर जी महाराज ससघ एव गणिनी आर्यिका १०५ सुपार्श्वमति माताजी ससघ के पावन सान्निध्य मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का कार्यक्रम विधि-विधानुसार सोल्लास सानन्द सम्पन्न हुआ। पचकल्याणक के सभी कार्यक्रम ऐतिहासिक रहे।

—ट्रस्ट कमेटी
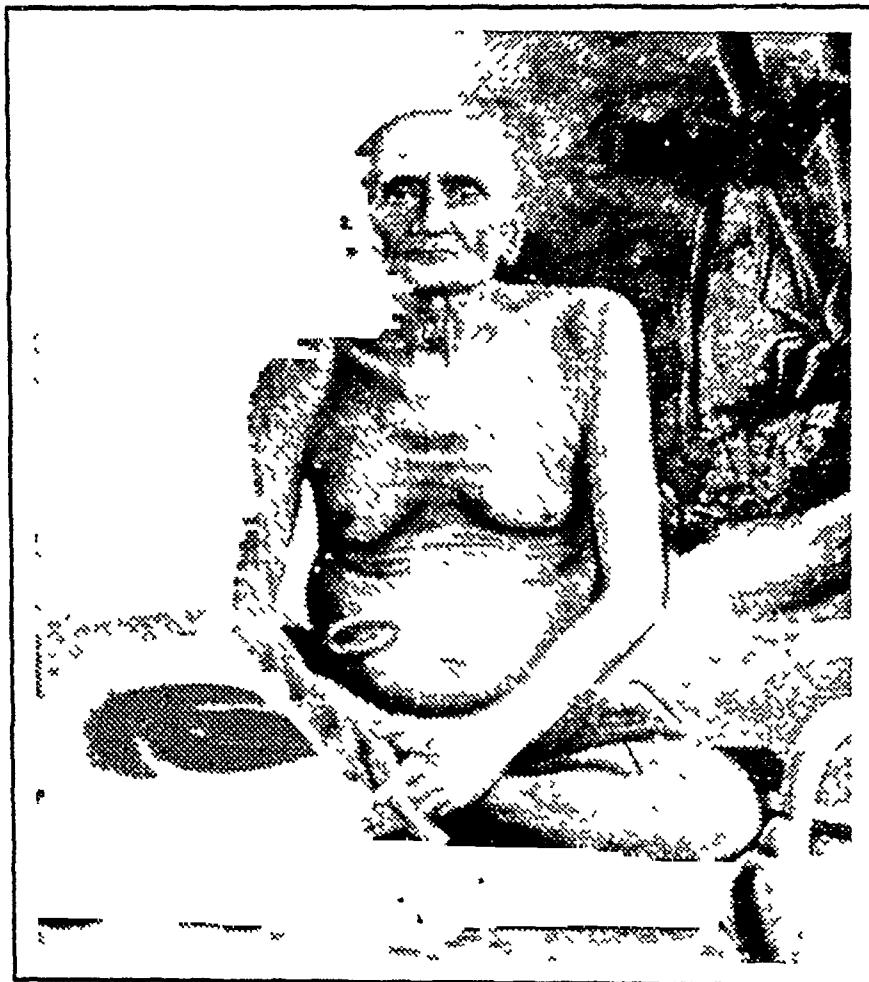
आचार्य 108 श्री शान्ति सागरजी महाराज
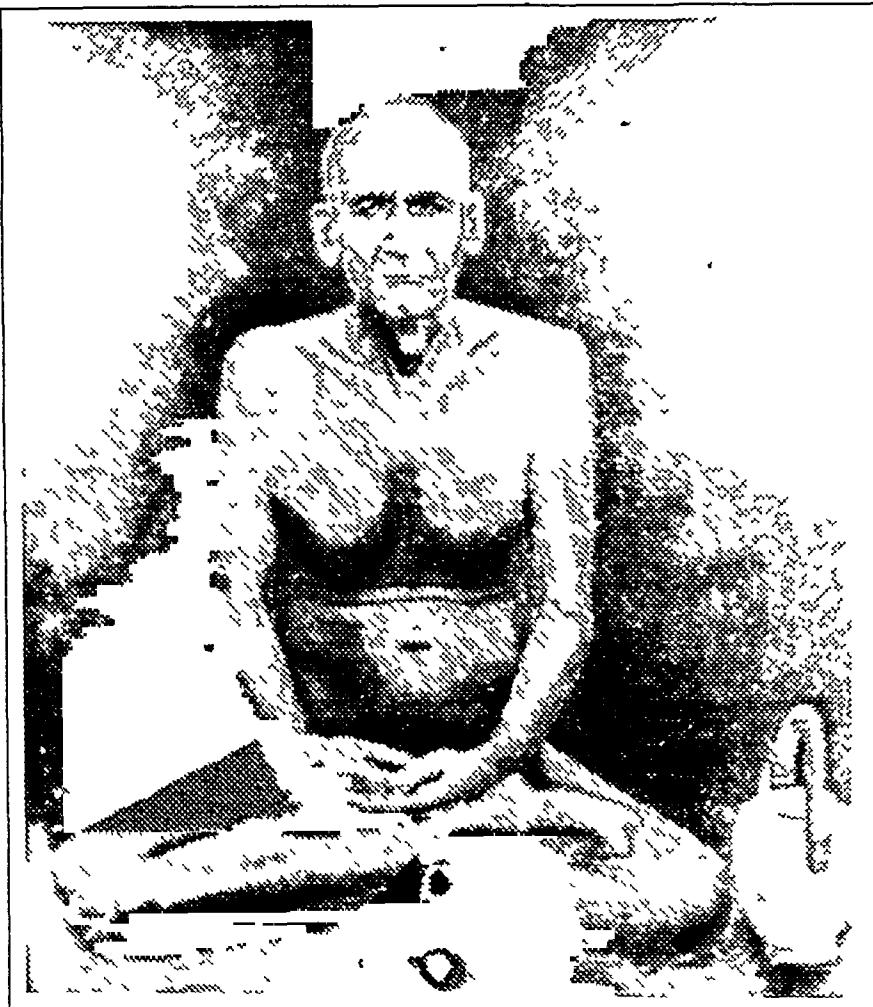
आचार्य 108 श्री वीरसागरजी महाराज

श्री वीतरागाय नमः

श्री शांतिसागर जैन ग्रन्थमाला

श्रीमच्चामुण्डराय विरचित–

–: चारित्रसार :–

(हिन्दी अनुवाद सहित)
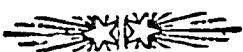
अरिहननरजोहननरहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान्सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ।।

मैं (ग्रंथकर्ता श्रीचामुंडराय) मोहनीय कर्मको नाश करनेवाले ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणको नाश करने वाले और अंतराय कर्मको नाश करने वाले तथा सबके द्वारा पूजा करने योग्य ऐसे अरहंत भगवानकी स्तुति करता हूं तथा सिद्धोंके आठ गुणोंसे सुशोभित ऐसे सिद्ध भगवानकी स्तुति करता हूं और सदा रत्नत्रय को सिद्ध करने वाले साधु लोगों की स्तुति करता हूं ।।१।।

और जो अंतरंग वहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले भगवान अरहंत देवका कहा हुआ है, जो संसारमे सुमंगल रूप है । सर्वोत्तम है । शिष्य जीवों को शरणरूप है । और स्वर्ग मोक्ष रूप फल देनेवाला है ऐसे धर्मको मैं मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक नमस्कार करता हूं ।।२।।

इस संसारमे धर्म ही सब सुखोका खजाना है और धर्म ही सबका हित करनेवाला है। इस धर्मको विद्वान् लोग ही सेवन करते हैं वा वृद्धि करते है। इस धर्मसे ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है इसलिये इसी धर्मकेलिये मैं नमस्कार करता हूं। संसारी जीवोको धर्मके सिवाय और कोई मित्र नहीं है। इस धर्मकी जड दया है इसलिये मैं अपना चित्त प्रतिदिन धर्ममे धारण करता हूं। हे धर्म! मेरी रक्षा कर ॥३॥

सम्यग्दर्शन और पांच अणुव्रतोंका वर्णन—सम्यग्दृष्टियोंके लिये प्रधान रीतिसे वंदना करने योग्य चार है—अरहंत सिद्ध साधु और धर्म। इनमेसे अरहंत सिद्ध और साधु तो नमस्कार रूपसे कह दिये गये है अब धर्म का स्वरूप कहते हैं। जो इस आत्माको सबको इष्ट ऐसे नरेंद्र सुरेन्द्र मुनींद्र और मोक्ष स्थानमे धारण करदे उसे धर्म कहते है अथवा संसारी प्राणियो को जो धारणकर उत्तम स्थानमे पहुंचादे उसे धर्म कहते है। वह धर्म गृहस्थ और मुनियोके भेदसे दो प्रकारका है उसमेसे पहिले गृहस्थ धर्मको कहते हैं।

दार्शनिक, वृती, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रि-भुक्तिवृत, नित ब्रह्मचारी, आरंभत्यागी, परिग्रहत्यागी, अनुमति और उद्दिष्टत्यागी; इसप्रकार श्री जिनेन्द्रदेवने अनुक्रमसे इन ग्यारह स्थानोमे रहनेवाले ग्यारह प्रकारके श्रावक बतलाये है।

इन श्रावकोके ये वृतादि गुण सम्यग्दर्शनादि अपने पहिलेके गुणोंके साथ अनुक्रमसे बढ़ने रहते है। इनमेसे दर्शन प्रतिमावाला संसार और शरीरके भोगोसे विरक्त रहता है। पांचो परमेष्ठिय्रोके चरणकमलोका भक्त रहता है, और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध रहता है। भगवान अरहंत परमेष्ठी श्रीजिनेन्द्र देवने जो निर्ग्रंथरूप मोक्षका मार्ग बतलाया है उसमे श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है यह सम्यग्दर्शन मोक्षनगरमे जानेवाले पथिक के लिए मार्गमे खाने-पीने वा काम आने योग्य पाथेय है, मुक्तिरूपी सुन्दर

स्त्रीके श्रृंगार करनेके लिए मणियोंका बना हुआ दर्पण है, संसार महासागर रूपी गड्ढेमे डूबे हुए मनुष्यके लिए दिए हुए हाथका सहारा है। श्रावकोके ग्यारह स्थान व प्रतिमारूपी राजमहलकी नींव है, उत्तम क्षमा आदि दश-कुलधर्मरूपी कल्पवृक्षकी जड़ परम पवित्र है। समस्त मंगल द्रव्योंका स्थान है और मोक्षका मुख्य कारण है।

इस सम्यग्दर्शनके आठ अंग है—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इहलोक, परलोक, व्याधि, मरण, अगुप्ति, अरक्षा और आकस्मिक इन सातो प्रकारके भयोसे रहित होना निःशंकित है। अथवा भगवान अरहंत देवके कहे हुए अत्यन्त गहन ऐसे द्वादशांग शास्त्रमे 'एक अक्षर वा एक पदके लिए' यह है वा नहीं, ऐसी शंका न होना निःशंकित अंग है। इस लोक और इंद्रियोके विषय सम्बन्धी उपभोगोंकी आकांक्षा दूर करना अथवा मिथ्यादृष्टि होनेकी आकांक्षा नहीं करना निःकांक्षित अंग है। शरीरादिको अपवित्र समझकर यह शरीर पवित्र है ऐसे मिथ्या संकल्पका दूर करना अथवा अरहन्तदेवके कहे हुए शास्त्रोंमे जो कुछ कहा है वह सब अयुक्त है अत्यंत कष्टदायक है तथा बिल्कुल असंभव है ऐसी अशुभ भावना नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग कहा जाता है। अनेक प्रकारके जो दुर्नयमार्ग (मिथ्या-मार्ग) है जिनमे कहे हुए अतत्त्व वा मिथ्यातत्व भी तत्त्वोंके समान जान पड़ते है। उनमें युक्तियोंका अभाव समझकर परीक्षा रूपी नेत्रोंके द्वारा अपना मोह दूर करना अर्थात् ऐसे मिथ्या मार्गमे मोहित न होना अमूढ़-दृष्टि अंग कहलाता है। उत्तम क्षमादि भावनाओंके द्वारा अपने आत्मा तथा कुटुम्ब परिवार वा अन्य लोगोंके धर्मकी वृद्धि करना उपबृंहण अंग कहा जाता है। धर्मसे भ्रष्ट करनेवाले कषायोके प्रगट हो जानेपर अपने को तथा दूसरोको धर्मसे भ्रष्ट होनेसे रक्षा करना (धर्मका मार्ग छोड़ने न देना) स्थितिकरण अंग है। भगवान श्री जिनेन्द्रदेवके कहे हुए धर्मरूपी

अमृतमें सदा अनुराग रखना अथवा जिसप्रकार तुरंतकी प्रसूता गाय अपने बच्चे पर प्रेम करती है उसीप्रकार चारो प्रकारके संघपर स्वाभाविक प्रेम करना वात्सल्य अंग कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोके प्रभावसे आत्माका प्रभाव प्रगट करना अथवा ज्ञान तपश्चरण और पूजाओमे ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोके द्वारा परमतरूपी खद्योत (जुगनु वा पटवीजना) का प्रकाश ढक देना, तथा जिसमे इन्द्रादि बड़े-बड़े देवोके आसनोको कम्पायमान करनेकी सामर्थ्य है ऐसे बड़े-बड़े महा उपवास आदि श्रेष्ठ तपश्चरणके द्वारा अपने जैनमतको प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादान आदि कार्योके द्वारा धर्मका प्रकाश करना प्रभावना अंग है। इसप्रकार आठों अंगोंसे परिपूर्ण सम्यग्दर्शन होता है। यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतोंका नाम तक नहीं होता है। यही सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत सहित हो तो उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और यदि महाव्रत सहित हो तो उससे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार अंगहीन राज्य कल्याणकारी नहीं हो सकता उसीप्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। सो ठीक ही है क्योकि अक्षरहीन मन्त्रसे कभी विषकी वेदना दूर नहीं होती।

अब आगे सम्यग्दर्शनके गुण कहते है—संवेग (धर्मके कामोंमे परम रुचि रखना) निर्वेद (संसारशरीर भोगोसे विरक्त रहना) निंदा (अपनेमे गुण होते हुए भी अपनी निन्दा करते रहना) गर्हा (अपनेमे गुण होते हुए भी मनमे अपनी निन्दा करते रहना) उपशम (कषायोकी मन्दता रखना शांतिभाव रखना) भक्ति (पंच परमेष्ठीमे गाढ़ भक्ति रखना) अनुकम्पा (जीवदयाके भाव प्रगट करते रहना) वात्सल्य (धर्मात्माओंमे प्रेम रखना) ये आठ सम्यग्दृष्टि पुरुषके गुण है। सम्यग्दर्शनकी प्रशंसामें अबद्धायुष्क (जिसके सम्यग्दर्शन हो गया हो और आयुकर्मका बन्ध न हुआ हो) के लिए लिखा है—जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है वह अव्रती होनेपर भी

नारकी तिर्यञ्च नपुंसक, स्त्री नहीं होता, नीचकुलमें उत्पन्न नहीं होता, विकृत (अंग उपांग हीन) नहीं होता, थोड़ी आयुवाला नहीं होता और दरिद्री भी नहीं होता। और भी लिखा है--इस संसाररूपी महासागरमें जो भव्य चारित्ररूपी जहाजपर चढ़कर मोक्षरूपी द्वीपको जारहे हैं उनके लिए यह सम्यग्दर्शन खेवटियाके समान है। भावार्थ--सम्यग्दर्शनके बिना वे कभी मोक्ष नहीं पहुंच सकते।

किसी समय किसी सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे शंका; आकांक्षा, विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा तथा अन्यदृष्टिसंस्तव ये पांच अतिचार भी होते हैं। मनसे मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और चारित्र गुणोंको प्रगट करना प्रशंसा है और वचनसे उनमे होनेवाले वा न होनेवाले गुणोको प्रगट करना संस्तव है। बस! यही मनसे तथा वचनसे होनेवाली प्रशंसा और स्तुतिमें भेद है। बाकीके अतिचार सब सरल हैं। सम्यग्दर्शन अणुवृती और महावृती दोनोके एकसा होता है। इसलिए ये अतीचार भी दोनोंके ही होते है।

जो शल्यरहित होकर पांच अणुवृत रात्रि भोजन त्याग और सातों शीलोको [तीन गुणवृत चार शिक्षावृतोंको] अतिचार रहित पालता है वही वृती कहलाता है। शल्यबाणको कहते है--जिसप्रकार शरीरमें घुसा हुआ बाण अथवा भाला वरछाकी चोट जीवोको दुःख देती है उसीप्रकार कर्मके उदयजन्य विकार होनेपर जो शल्यके (बाणके) समान शरीर और मनको दुःख देनेवाली हो उसे शल्य कहते है। वह शल्य माया निदान और मिथ्यादर्शनके भेदसे तीनप्रकार है। वंचना ठगना आदिको माया कहते है। विषय भोगोंकी इच्छा करना निदान है और अतत्त्वोका श्रद्धान करना अथवा तत्वोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। आगे जो महावृतका स्वरूप कहेंगे उसको धारण करनेवाले महावृतीको भी तीनों शल्योंका त्याग कर ना चाहिए।

अभिप्राय पूर्वक नियम करनेको वृत कहते है । गृहस्थके समस्त पापोका त्याग होना असम्भव है इसलिए जो गृहस्थ मन-वचन-काय इन तीनोसे प्रमाद वा कषायसे होनेवाले दो इंद्रिय आदि त्रस जीवोके प्राणोके घातसे दूर रहता है अर्थात् जो मन वचन काय तीनोसे त्रसजीवो की हिंसा करना छोड़ देता है उसका वह पहिला अहिंसाणुवृत कहलाता है । प्रमादके निमित्तसे त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग करनेरूप अहिंसाणुवृतके बंध वध छेद अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध ये पांच अतिचार होते है । जो (पुरुष स्त्री वा पशु) अपनी इच्छानुसार दूसरे स्थानको जाना चाहता हो उसे रोकनेके लिए कील खूंटा आदिमे रस्सी संकल आदिके द्वारा बांधना बंध कहलाता है । लकड़ी, कोड़ा और बेत आदिके द्वारा जीवोको मारना वध है । कान, नाक आदि अवयवोका काटना छेद है । बैल घोड़ा आदि जीव अपनी शक्तिके अनुसार न्यायसे लेजाने योग्य जितना बोझ लेजा सकते है उससे अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण कहलाता है । किसी भी कारणसे उन बैल घोड़ा आदि जानवरोको भूख प्यासकी बाधा देना अन्नपान निरोध है ।

स्नेह, मोह और द्वेषके उद्रेकसे असत्य भाषण किया जाता है । उस असत्यके त्याग करनेमे आदर रखना गृहस्थके दूसरा सत्याणुवृत कहलाता है । इस सत्याणुवृतके भी मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पांच अतिचार होते है । अभ्युदय और मोक्ष सिद्ध करनेवाली विशेष क्रियाओमे किसी भी अन्य पुरुषको विपरीतरूपसे प्रवृत्त कराना अथवा विपरीत अभिप्राय बतलाना मिथ्योपदेश है । स्त्री-पुरुषोके द्वारा एकान्तमे की हुई विशेष क्रियाओको प्रकाशित कर देना रहोभ्याख्यान है । जो बात किसी दूसरेने नहीं कही है उसी बातको किसीकी प्रेरणासे "उसने यह बात कही है अथवा उसने यह काम किया है" इसप्रकार ठगनेके लिए झूठे लेख लिखना कूटलेख क्रिया है । कोई पुरुष

सोना चांदी आदि द्रव्य किसीकी धरोहर रख गया हो और फिर अपनी रखी हुई संख्या भूलकर थोड़ा ही द्रव्य मांगता हो उसके लिए वह धरोहर रखनेवाला "अच्छा ठीक है इतना ले जाओ" इसप्रकार आज्ञा दे तो उस धरोहर रखनेवालेके न्यासापहार अतिचार लगता है। किसी अर्थके प्रकरण से अथवा अंगोंके विकारसे वा भौंह चलाने आदि किसी भी कारणसे दूसरे का अभिप्राय जानकर ईर्षा और डाहके निमित्तसे उस अभिप्रायको प्रगट कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है।

जो राजा आदिके भयके वशसे परवश होकर छोड़ दिया गया हो अथवा कोई रख गया हो वा किसीसे पड़ गया हो अथवा कोई भूल गया हो ऐसे दूसरेको दुःख देनेवाले बिना दिए हुए द्रव्यको ग्रहण करना चोरी है उसका त्याग करना अथवा उसका त्याग करनेमें आदर रखना श्रावकके तीसरा अचौर्याणुव्रत कहलाता है। इस अचौर्याणुव्रतके स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अतिचार होते हैं। चोरको तीन तरहसे प्रेरणाकी जा सकती है—एक तो चोरको स्वयं प्रेरणा करना, दूसरे अन्य किसीसे प्रेरणा कराना और तीसरे चोरी करनेवालेको भला मानना इन तीनों क्रियाओंको स्तेनप्रयोग कहते हैं। जिसको चोरी करनेके लिए न तो प्रेरणा की है और न जिसकी चोरी करनेमें सहमत हुआ है ऐसे चोरके द्वारा लाये हुए द्रव्यको ग्रहण करना तदाहृतादान है। जिस राज्यमें विरुद्धता फैली हो उसे विरुद्धराज्य कहते है, उचित न्यायको छोड़कर दूसरी तरहसे ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। किसी विरुद्ध राज्यमे अतिक्रम करना अर्थात् उचित न्यायको छोड़कर अन्यायपूर्वक लेना देना विरुद्धराज्यातिक्रम है। नापनेके सेर पायली आदिको मान कहते है और तौलनेके तोले सेर छटांक आदिको उन्मान कहते है इनको कमती बढ़ती रखना अर्थात् कमतीसे दूसरोंको देना और बढ़तीसे लेना इसप्रकार छलकपटके प्रयोग करनेको हीनाधिक मानो-

न्मान कहते हैं। कृत्रिम सोने चांदी आदिके द्वारा ठगनेको व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है।

उपात्त (विवाहित) तथा अनुपात्त (अविवाहित) परस्त्रियोके समागमसे विरक्त रहना सो विरताविरत श्रावकके चौथा ब्रह्माणुव्रत कहलाता है। इस स्वदारसन्तोष व्रतके परविवाहकरण, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, इत्वरिका परिगृहीतागमन, अनंग क्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच अतिचार होते हैं। सातावेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जो पंच अग्नि और देवोकी साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहते है। दूसरेका विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है।

ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेसे जो कला गुण आदि प्राप्त हुए है उनके कारण तथा चारित्रमोहनीय कर्मके अंतर्गत स्त्रीवेद कर्मके विशेष उदय होनेसे और अंगोपांग नामकर्मके उदयकी प्राप्ति होनेसे जो पर पुरुषों के समीप जाती है उसे इत्वरिका कहते है। वेश्या होकर अथवा व्यभिचारिणी बनकर पर पुरुषोके समीप जानेका जिसका स्वभाव है, जिसका कोई स्वामी नहीं है उसे इत्वरिकाअपरिगृहीता कहते है उसमें गमन करना इत्वरिका अपरिगृहीतागमन कहलाता है जिसका कोई एक पुरुष स्वामी हो वह परिगृहीता कहलाती है इत्वरिका परिगृहीता स्त्रीमे गमन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन कहलाता है। उत्पन्न होनेके स्थानको अर्थात् योनिको अंग कहते है उसको छोड़कर किसी भी दूसरी जगह काम क्रीडा करना अनंगक्रीडा कहलाती हैं। कामके अत्यन्त बढ़े हुए परिणामोको अर्थात् कामसेवनसे तृप्त न होना सदा उसीमे लगे रहना आदिको कामतीव्राभिनिवेश कहते है।

अपनी इच्छानुसार धन-धान्य क्षेत्र आदिका परिमाण कर लेना सो गृहस्थके पांचवां परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहलाता है। इस परिग्रहपरिमाण

वृतके क्षेत्र वास्तु, हिरण्यसुवर्ण, धन धान्य, दासी दास, और कुप्य ये पांच अतिचार होते है। जिनमें धान्य पैदा होता है ऐसे खेतोंको क्षेत्र कहते हैं, मकानको वास्तु कहते हैं, रुपया आदि जिससे संसारका व्यवहार चलता है उन्हें हिरण्य कहते है सोनेको सुवर्ण, गाय, भैंस, घोड़े आदि जानवरोंको धन, गेहूं जौ आदिको धान्य, नौकर रहनेवाले स्त्री पुरुषोंके समूहको दासी दास, और कपड़ा कपास, कोसा चन्दन आदि घरकी सामग्रीको कुप्य कहते हैं। परिग्रहपरिमाणाणुवृत धारण करनेवालेको इन सब चीजोंका परिमाण कर लेना चाहिए कि मैं इन चीजोंको इतनी रखूंगा इससे अधिक नहीं। इसप्रकार परिमाण कर लेने पर अतिशय लोभके वश होकर उस परिमाण का उल्लंघन करना अर्थात् खेत मकान आदिकी मर्यादा वा संख्या बढ़ालेना परिग्रहपरिमाण वृतके अतिचार हैं।

जीवोंपर दयाकर रात्रिमें अन्न पान खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना रात्रिभोजन विरमण नामका छट्ठा अणु-वृत कहलाता है।

हिंसा असत्य चोरी कामसेवन और परिग्रह इनसे एकदेश विरक्त होना त्याग करना पांच प्रकारका अणुवृत कहलाता है। तथा रात्रिभोजन का त्याग करना छठा अणुवृत कहा जाता है।

इसप्रकार अणुव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ।

आगे गुणवृत तथा शिक्षावृतोंका वर्णन करते हैं—जो श्रावक अपने वृतोंको स्थिर रखना चाहता है उसे तीन गुणवृत और चार शिक्षावृत इन सातों विशेष वृतोंको और पालन करना चाहिए।

इन सातों वृतोंको शील कहते हैं तथा दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, और अतिथिसंविभागवृत ये उनके नाम है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऊर्ध्व (ऊपर) अधो (नीचे) ईशान

आग्नेय नैऋत्य और वायव्य ये दश दिशाएं कहलाती है। पर्वत, नदी आदि प्रसिद्ध चिन्होंके द्वारा अथवा योजनादिके द्वारा उन दशो दिशाओका परिमाण कर लेना और यह नियम कर लेना कि ये सब दिशाऐं जो हटाये न जा सके ऐसे छोटे २ जीवोसे भरी हुई है इसलिए इस किए हुए परिमाणके बाहर मै नहीं जाऊंगा इसप्रकार परिमाणके बाहर जाने आनेका त्याग करना दिग्विरति है। जो श्रावक सम्पूर्ण पापोका त्याग नहीं कर सकता इसलिए अपनी शक्तिके अनुसार प्राणियोकी हिंसाका त्याग करना चाहता है वह यह समझता है कि प्राणोके लिए यात्रा हो अथवा न हो, भारीसे भारी प्रयोजन वा काम होनेपर भी नियमित दिशाओके बाहर नहीं जाऊंगा ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तथा अहिंसा आदि पांचो अणुव्रतोको धारण करनेवाले श्रावकके नियमित दिशाओके परिमाणके बाहर मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदनासे हिंसादि समस्त पापोंका पूर्ण रीतिसे त्याग हो जाता है इसलिए मर्यादाके बाहर उसके महाव्रत ही समझा जाता है।

इस दिग्विरति व्रतके ऊर्ध्वातिक्रम; अधोतिक्रम, तिर्यग्गतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतराधान ये पांच अतिचार होते है। पर्वत वा ऊंची भूमि पर चढ़नेसे ऊपरकी मर्यादामे उल्लंघन किया जा सकता है, कुएमें उतरने आदिमे नीचेकी दिशाका उल्लंघन हो सकता है। पृथ्वीके बड़े-बड़े बिल और पर्वतोकी कंदराओमे जानेमे तिर्यक् अतिक्रम होता है योजनादिके द्वारा जो सब दिशाओंका परिमाण किया था उसके आगे जानेके लिए भी लोभ के कारण आकांक्षा रखना क्षेत्रवृद्धि है। मैने योजनादिकोके द्वारा इतना-इतना परिमाण किया है ऐसी स्मृतिका भूल जाना स्मृत्यंतराधान है। ये सब अतिचार प्रमादसे मोहसे अथवा व्यासंगसे होते हैं।

मै इस घरमे रहता हूं अथवा इस तालाबके भीतर मकानमे रहता हूं इसलिए इतने दिन तक अथवा इतनी देरतक इसके बाहर अन्य देशमे

नहीं जाऊंगा इसप्रकार त्याग कर देना देशविरति है। इस देशविरतिका प्रयोजन भी दिग्विरतिके समान समझना चाहिए।

इस वृतके भी आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गल-क्षेप ऐसे पांच अतिचार है। जितना देश अपने रहनेके लिए संकल्पकर रखा है उसमे रहकर भी किसी प्रयोजनसे (मर्यादाके बाहरसे) "तुम यह ले आओ" ऐसी आज्ञा देना आनयन है। जितना देश नियत कर रखा है उसके बाहर स्वयं न जाकर भी किसी दूसरेको भेजकर ही अपना प्रयोजन सिद्धकर लेना प्रेष्यप्रयोग है। मर्यादाके बाहर व्यापार करनेवाले आदि पुरुषोंकी ओर लक्ष्य रखकर ही अर्थात् उन्हें खास जतलानेके लिए ही खांसना मठारना आदि शब्दानुपात है। मर्यादाके बाहर काम करनेवाले लोग मेरे रूपको—मुझको देखकर कामको बहुत जल्दी कर डालेंगे यही समझकर अपना शरीर दिखाना रूपानुपात है। अपने नौकर वा काम करनेवालोंको समझानेके लिए ढेला पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप है। दिग्विरति वृत जन्मभरके लिए होता है और देशविरति अपनी शक्तिके अनुसार कालकी मर्यादाको लेकर होता है।

बिना ही प्रयोजनके जितने पाप लगते हों उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं। अनर्थदण्ड पांच हैं—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। हारना, जीतना, मारना, बांधना अंगोंको काटना सब धनका हरण हो जाना आदि कैसे हो इसप्रकार मनसे चिंतवन करना अपध्यान है। पापोपदेश चार प्रकारका है—क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, बधकोपदेश और आरंभकोपदेश। अमुकदेशमे दासी दास बहुत मिलते है उन्हे वहांसे लेजाकर बेचनेमें बहुतसे धनका लाभ होगा इसको क्लेशवणिज्या कहते है। गाय, भैंस आदि पशुओको यहांसे लेजाकर दूसरे देशमें बेचनेसे बहुत धनका लाभ मिलेगा इसको तिर्यग्वणिज्या कहते है। हिरण आदि पशु मारने-वालोको यह कहना कि अमुक देशमे हिरण बहुत हैं, सूअर मारनेवालोंको

यह कहना है कि अमुक देशमें सूअर बहुत हैं और पक्षी मारनेवालोंको यह कहना है कि अमुक देशमे पक्षी बहुत है सो बधकोपदेश है। किसान आदि आरम्भ करनेवालोंको यह उपदेश देना कि पृथ्वीका आरम्भ (जोतना खोदना आदि) इसप्रकारसे करना चाहिए तथा जल अग्नि वायु वनस्पति आदिका आरंभ इस उपायसे करना चाहिए ऐसे उपदेश वा व्याख्यानको आरंभकोपदेश कहते है इसप्रकार पापरूप वचन कहना पापोपदेश है। बिना ही प्रयोजनके पृथ्वीको खोदना पानी सींचना, अग्नि जलाना, वायु रोकना, वनस्पतियोंको काटना आदि पापकर्मोको प्रमादाचरित कहते है। विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक लाठी आदि हिंसा करनेवाली चीजोको देना हिंसादान है। राग द्वेष आदिके उद्रेकसे दुष्ट कथाओंको सुनना शिक्षा देना फैलाना आदि अशुभश्रुति है। इन पांचों अनर्थ दण्डोंका त्याग अवश्य करना चाहिए इसको अनर्थदण्डविरति कहते हैं।

इस अनर्थदण्ड व्रतके भी कंदर्प कौत्कुच्य मोखर्य असमीक्ष्याधिकरण और उपभोग परिभोगानर्थक्य ये पांच अतिचार है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदयसे जो रागका उद्रेक होता है उससे हंसी मिले हुए अशिष्ट वचनों के कहनेको कंदर्प कहते है। रागकी तीव्रताके कारण दूसरेके लिए शरीरकी दुष्ट क्रिया सहित (शरीरके खोटे विकारों सहित) हंसी मिले हुए वचन तथा साधारण वचन इन दोनोका कहना कौत्कुच्य है। सभ्यताके बाहर जो कुछ अनर्थक और बहुतसा बकवाद करना है वह मौखर्य कहलाता है। असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकार है—मनके द्वारा किया हुआ, वचनके द्वारा किया हुआ और शरीरके द्वारा किया हुआ दूसरेका अनर्थ करनेवाले काव्य आदिकोका चितवन करना मनके द्वारा किया हुआ। असमीक्ष्याधिकरण है। बिना ही प्रयोजनके दूसरेको पीड़ा देनेकी प्रधानता रखनेवाली कथाओका व्याख्यान करना अथवा दूसरोको पीड़ा देनेकी प्रधानता रखनेवाले व्याख्यान देना वचनके द्वारा किया हुआ असमीक्ष्याधिकरण है। बिना ही प्रयोजनके

चलते हुए खड़े होकर अथवा बैठकर सचित्त वा अचित्त पत्ते फूल आदिको छेदना, भेदना, कूटना, फेंकना तथा अग्नि विष खार आदिका देना तथा और भी ऐसी ही क्रियाओंको बिना प्रयोजन करना शरीर कृत असमीक्ष्याधिकरण है। जिसका जितने धनसे वा जितनी चीजोंसे उपभोग परिभोग हो सकता है वह तो उसका अर्थ कहलाता है उससे अधिक संग्रह करना अनर्थक कहलाता है। इसप्रकार प्रयोजनसे अधिक सामग्रियोंका इकट्ठा करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है।

अच्छी तरह प्राप्त होना अर्थात् एकान्तरूपसे आत्मामें तल्लीन हो जाना समय है। मन-वचन-कायकी क्रियाओंका अपने-अपने विषयसे हटकर आत्माके साथ तल्लीन होनेसे द्रव्य तथा अर्थ दोनोंसे आत्माके साथ एकरूप होजाना ही समयका अभिप्राय है। समयको ही सामायिक कहते हैं अथवा समयही जिसका प्रयोजन हो उसको सामायिक कहते है। वह सामायिक नियत देश और नियत समयमे ही किया जाता है। जिसमें कोई उपद्रव न हो और एकान्त हो ऐसे मकान वन तथा चैत्यालय आदि सामायिकके लिए योग्य देश हैं। ऐसे किसी देशमे केशोंका बांधना मुष्टिका बांधना वस्त्रोंका बांधना पर्यंक आसन, मकरमुखासन आदि अनेक आसनोमेसे किसी एक आसनसे बैठना इन सबकी तथा उस स्थानकी मर्यादा नियतकर सामायिक करना चाहिए। समयकी मर्यादा बांधकर भी सामायिक करना चाहिए और उतने समयतक शीत उष्ण आदिकी परिषह यदि आजांय तो उन्हें जीतना चाहिए। उससमय उपसर्गोको भी सहन करना चाहिए, मौन धारण करना चाहिए और विषय कषायोसे दूर होकर सामायिक करना चाहिए इसतरह सामायिक करनेवाला गृहस्थ महाव्रती गिना जाता है। यद्यपि उससमय उस सामायिक करनेवालेका चित्त हिंसादि समस्त पापोंमेसे किसी भी पापमे आसक्त नहीं रहता तथापि संयमको घात करनेवाले अन्तरंग कारण प्रत्याख्यानावरण कर्मके उदय होनेसे मंद-मंद अविरतिरूप (त्याग न

करनेरूप) परिणाम होते हैं। तथापि उसे उपचारसे महाव्रत कहते हैं। इसप्रकार सामायिक करनेवाला यदि अ भव्य भी हो और वह निर्ग्रथरूप धारण कर ग्यारह अंग का पाठी हो तोवास्तवमे असंयम भाव धारण करनेपर भी बाह्य महाव्रतोके पालन करने से वह उपरिम ग्रैवेयक के विमानोमे अहमिन्द्र उत्पन्न हो सकता है। इसी तरह भव्य जीव भी बाह्य निर्ग्रथ लिंग धारणकर केवल सामायिक धारण करनेसे अहमिंद्रोके स्थानमे जाकर उत्पन्न हो जाता है यदि वही भव्य जीव सम्यग्दर्शनसे अपने आत्माको पवित्र करले और फिर सामायिक धारण करे तो फिर उसकी क्या बात है! भावार्थ—वह तो मुक्त होता ही है।

समस्त पापरूप योगोका त्याग करना ही सामायिक है ऐसे इस सामायिकके कायदुःप्रणिधान, वाग्दुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर, और स्मृत्यनुपस्थापन ये पांच अतिचार है। दुष्ट प्रणिधान अथवा दुष्ट प्रवृत्तिको दुःप्रणिधान कहते है अथवा अन्यथा रूप प्रवृत्ति करना भी दुःप्रणिधान है। क्रोधादि कषायरूप परिणामोके निमित्तसे दुष्ट प्रवृत्ति वा दुःप्रणिधान होता है हाथ पैर आदि शरीरके अवयवोको निश्चल न रखना काय दुःप्रणिधान है, अक्षरोंके उच्चारणमे अथवा भाव वा अर्थमे प्रमाणता न होना उच्चारणमे वा अर्थमे चपलताका होना वाग्दुःप्रणिधान है। सामायिकमे मन न लगाना मनोदुःप्रणिधान है। सामायिकमे करने योग्य कर्तव्य कर्मोको पूर्ण न करना उनको जिस तिस तरह करना अथवा सामायिक वा सामायिकको क्रियाके करनेका उत्साह न रखना अनादर है। चित्तको एकाग्र न रखना अथवा चित्तमे समाधानता न रखना स्मृत्यनुपस्थापन है। अथवा अत्यन्त प्रमादी होनेके कारण रातदिन चिंतवन करते हुए भी स्मरण न रहना स्मृत्यनुपस्थापन है। मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापन इन दोनोमे यह भेद है कि क्रोधादि कषायोके आवेशसे अथवा सामायिक मे उदासीनता रखनेके कारण बहुत थोड़ी देरतक सामायिकमे चित्त लगाना मनोदुःप्रणिधान है और चिंतवनके परिस्पंदन होनेसे अर्थात् बदलजानेसे

चित्तको एकाग्र न रखना स्थिर न रखना स्मृत्यनुपस्थापन है। इसप्रकार दोनो अतिचारोकी भिन्नता स्पष्ट है।

प्रोषधशब्दका अर्थ पर्व है। कान आदि पांचो इन्द्रियोंकी अपने शब्द आदि विषयोको ग्रहण करनेकी उत्सुकता छोड़कर आत्मामे आकर निवास करनेको उपवास कहते है। लिखा भी है--

उपेत्याक्षाणीत्यादि अर्थात् समस्त इंद्रियां अपने-अपने कार्योंसे निवृत्त होकर आत्मा मे आकर निवास करे उसे विद्वान लोग उपवास कहते है।

पर्वके दिन चारो प्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास है। उस दिन श्रावकको सब तरहके आरंभ छोड़ देना चाहिए। अपने शरीरका संस्कार करनेवाले शोभा बढ़ानेवाले स्नान गंध, माला, और आभरण आदिकोका त्याग कर देना चाहिए तथा किसी पवित्र जगह में साधुओंके निवास स्थानमे, चैत्यालयमे अथवा अपने खास प्रोषधोपवासके घरमे रहकर अपने अंतःकरणमे धर्मकथाओको सुनते और चिंतवन करते रहना चाहिए।

इस प्रोषधोपवासके अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन ये पांच अतिचार है यहांपर जीव है वा नहीं है इसप्रकार आंखसे देखनेको प्रत्यवेक्षण कहते है। किसी भी कोमल उपकरणसे जीवोंके बचानेको प्रमार्जन कहते है। जो पृथ्वी न तो आंखसे देखी है और न किसी उपकरणसे शुद्ध की है उसमे मूत्र पुरीष करना, पेशाब करना, शौच वा टट्टी जाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहलाता है। अरहन्त वा आचार्य आदि परमेष्ठियोकी पूजाके जो बर्तन आदि उपकरण है अथवा गंध माला धूप आदि पूजाकी सामग्री है अथवा अपने पहिननेके कपड़े वा वर्तनआदि है उन सबको विना प्रमार्जन किये (शोधे) ग्रहण करना अप्रत्यवेक्षितामार्जिता-

दान है इसीतरह बिना देखे बिना प्रमार्जन किये ओढनेके वस्त्रोको रखना, बिछोना बिछाना (प्रोषधोपवासके दिन चटाई आदि बिछाना) अप्रत्य-वेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण कहलाता है। भूखकी अधिक बाधा होनेसे (अथवा और किसी कारणसे) देवपूजा आदि आवश्यक कर्मोमें उत्साह न रखना अनादर है। स्मृत्यनुपस्थापनकी व्याख्या पहिले कर ही चुके हैं।

जो अपने पास लाकर भोगा जाय उसको उपभोग कहते है। भोजन, पीनेकी चीजे गंध माला आदि सब उपभोग है। एक बार भोग करके भी फिर दुबारा तिबारा जिसको उपभोग किया जाय उसको परिभोग कहते है। ओढ़ने बिछाने पहननेके कपड़े आभूषण, शय्या, आसन घर रथ पालकी आदि सवारी और घोड़े हाथी आदि सवारी के जानवर ये सब परिभोग है। इन उपभोग परिभोग दोनोका परिमाण करना उपभोग परिभोग परिमाण कहलाता है। भोगोंका त्याग त्रसघात (जिसमे त्रस जीवोंका घात हो) प्रमाद (जिसमे प्रमाद वा बेहोशी हो) बहुवध (जिसमे बहुतसे स्थावर जीवोंका घात हो अनिष्ट जो इष्ट न हो) अनुपसेव्य जो, सेवन करने योग्य न हो इनके विषयभेदसे पांच तरह किया जाता है। जिसके हृदयमें त्रसजीवोंकी हिंसाका त्याग है उसे मधु (शहद) और मांस सदा के लिए छोड़ देना चाहिए मद्यके (शराबके सेवन) करनेवाला मोहित वा बेहोश हो जाता है उसे कार्य अकार्यका कुछ ज्ञान नहीं रहता। इसलिए प्रमाद दूर करनेके लिए मद्यका त्याग करना आवश्यक है। कैतकीके फूल अर्जुन वृक्षके फूल तथा और भी ऐसे फूलोंमें अनेक छोटे २ जीव पैदा होते रहते है। वे फूल छोटे २ जीवोंके पैदा होनेके स्थान हैं, गीला अदरक, गीली मूली, गीली हल्दी, गीले नीमके फूल आदि चीजोमे अनन्तकाय जीव रहते हैं इन सब चीजोके सेवन करनेसे फल तो बहुत थोड़ा होता है और घात बहुतसे जीवोका होता है। इसलिए इनका त्याग करदेना ही कल्याण-कारी है। रथ पालकी आदि सवारीकी चीजें हाथी घोड़े आदि सवारीके

जानवर तथा आभूषण आदि चीजोंमेंसे मुझे इतना-इतना रखना ही अभीष्ट है इतनेके सिवाय सब अनिष्ट हैं यही समझकर अनिष्टका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। जबतक प्रतिज्ञापूर्वक नियम न किया जाय तब-तक व्रत कभी नहीं कहला सकता इसलिए जो पदार्थ इष्ट है अर्थात् अपने नियत किये हुए परिमाणमे आ गए हैं उनमे भी अनेक रंगके वस्त्र चित्र विचित्र पोशाक और चित्र विचित्र आभरण आदि जो सेवन करनेके अयोग्य है उनका त्याग भी जीवन पर्यन्ततकके लिए कर देना चाहिए। यदि जन्मभरके त्याग करनेके लिए शक्ति न हो अथवा अधिक पदार्थोंके त्याग करनेकी शक्ति न हो तो कालका परिमाण नियतकर तथा उन पदार्थोंका परिमाण नियत कर अपनी शक्तिके अनुसार त्याग कर देना चाहिए।

इस उपभोग परिभोग परिमाणके सचित्ताहार सचित्त संबंधाहार, सचित्तसन्मिश्राहार अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पांच अतिचार हैं। जिसमे चेतना हो ऐसे हरितकाय वनस्पति आदिद्रव्योंको सचित्त कहते हैं ऐसे द्रव्योंका भोजन करना सचित्ताहार कहलाता है जिस भोजनका सचित्त-वाले द्रव्यके साथ संबंध वा संसर्ग होगया हो उसे सचित्त संबंधाहार कहते है। जिस भोजनमे सचित्त द्रव्य मिल गया हो उसे सचित्तसन्मिश्राहार कहते है। जो सोवीर आसव आदि पतले वा पौष्टिक पदार्थ हैं उन्हें अभि-षवाहार कहते हैं। पककर भी चावल ही ऐसे बने रहनेसे अथवा अधिक पककर गल जानेसे जिनका पाक दुष्ट पाक कहलाता हो अर्थात् जिस भोजनका पाक ठीक न हुआ हो (अधिक पकगया हो वा थोड़ा पका हो) उसे दुःपक्वाहार कहते हैं। सचित्त संबंध और सचित्त सन्मिश्र इन दोनोंमे यह भेद है कि जिसके साथ केवल सचित्तका संबंध हुआ हो वह तो सचित्त संबंध है और जिसमें सूक्ष्म जंतु इसप्रकार मिल गए हों कि जिन्हें कभी अलग नहीं कर सकते ऐसे भोजनको सचित्तसन्मिश्र कहते हैं। इन ऊपर

लिखे हुए सब तरहके भोजन करनेसे अपना उपयोग सचित्तरूप होता है, इंद्रियोका मद बढ़ता है और वायु आदि दोषोका प्रकोप होता है तथा उनके प्रतीकार करनेमे भी (उन रोगोका इलाज करनेमे भी) पापका लेप होता है अर्थात् पाप बढ़ता है और अतिथि वा साधु लोग भी इन सब चीजोको छोड़ देते है । (इसलिए ये सब उपभोग परिभोग परिमाण के अतिचार हैं)

जो संयमको नाश न करते हुए विहार करे उन्हे अतिथि कहते है अथवा जिनकी कोई तिथि नियत न हो अर्थात् अनियमित समयमे गमन करते हो उन्हे अतिथि कहते है । (मुनियोकी भिक्षामे उत्सव पर्व आदि कोई भी बाधक नहीं होते इसीलिए उनको भिक्षाके लिए कोई तिथि नियत नहीं रहती वे भिक्षाके लिए कब आवेगे ऐसा किसीको भी मालूम नहीं रहता) ऐसे अतिथिके लिए दान देना अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है । यह दान भिक्षा उपकरण औषध और प्रतिश्रय (वा वसतिका) के भेदसे चार प्रकारका है ।

अन्य शास्त्रोंमे लिखा है—प्रतिग्रहोच्चस्थानेत्यादि

अर्थात् प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनको शुद्ध रखना, वचनको शुद्ध रखना, कायको शुद्ध रखना, और शुद्धभिक्षा देना ये नौ प्रकारकी भक्ति वा विधि कहलाती है । इसीतरह—श्रद्धाशक्ति-रलुब्धत्वमित्यादि ।

अर्थात्—-श्रद्धा शक्ति, लोभ न करना, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये श्रद्धा आदि सात दान देनेवाले गृहस्थोके गुण है ।

इसप्रकार नवतरहकी भक्ति वा नौ तरहके पुण्य अथवा विधिके पालन करनेमे जो अत्यन्त कुशल है और श्रद्धा आदि सातो गुण जिसमे मौजूद है ऐसे गृहस्थको जो मोक्षमार्गके धारण करनेमे सदा तत्पर है और संयम पालन करनेमे सदा तल्लीन है ऐसे अतिथि साधुके लिए शुद्ध चित्तसे

पंचाश्चर्य आदि किसीकी भी इच्छा न रखकर निर्दोष भिक्षा देनी चाहिए। इसीतरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी वृद्धि करनेवाले धर्मोपकरण (पीछी शास्त्र कमंडलु आदि) देने चाहिए जो साधु वात पित्त कफ आदिके प्रकोपसे पीड़ित हैं ऐसे रोगी मुनिके लिए औषधि देनी चाहिए तथा परमधर्मकी श्रद्धापूर्वक वसतिका बनवा देनी चाहिए।

इसी अतिथिसंविभाग व्रतके सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य, और कालातिक्रम ये पांच अतिचार है। आहार देने योग्य भोजनको कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थपर रखना सचित्तनिक्षेप है। कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थसे भोजनोको ढकना सचित्तपिधान है। इस पदार्थका देनेवाला दाता यह है तथा यह जो भोजन दिया जा रहा है वह इसका है इसप्रकार कहकर आहार देना परव्यपदेश है। आहार देते हुए भी बिना आदरके देना मात्सर्य है। जो समय मुनियोंकी भिक्षाका नहीं है उसमें भोजन करना कालातिक्रम है। पात्र दान देनेमें अपना उपकार भी होता है और दूसरेका भी उपकार होता है। पुण्यकी वृद्धि होना अपना उपकार है और सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि होना परोपकार है। वह पात्रदान परंपरासे मोक्षका कारण और साक्षात् पुण्य बढ़ानेका हेतु है।

विधिकी विशेषता होनेसे, द्रव्यकी विशेषता होनेसे, दाताकी विशेषता होनेसे और पात्रकी विशेषता होनेसे दानमे भी विशेषता हो जाती है। प्रतिग्रह उच्चस्थान आदि नवधा भक्तिकी क्रियाएं है उन्हे आदरपूर्वक करना विधिकी विशेषता कहलाती है। भिक्षामें जो अन्न दिया जाय वह यदि आहार लेनेवाले साधुके तपश्चरण स्वाध्याय आदिको बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्यकी विशेषता कहलाती है। आहार देनेवालेका अभ्यास पूर्वक दान देना दान देनेमे किसी तरहका विषाद न करना जो दान देनेकी इच्छा रखता है: जो दान देता है और जिसने दान दिया है उसके प्रति सदा प्रेम प्रगट करना अपने दान देनेकी कुशलता संसारमें प्रसिद्ध हो, मेरे घर रत्नों

की वर्षा हो, देव लोग भी मेरी प्रशंसा करे इत्यादि प्रत्यक्ष फलोकी इच्छा न रखना, दान देते हुए किसीको नहीं रोकना निदान नही करना, और श्रद्धादि सातों गुणोको धारण करना तथा और भी ऐसे ही गुणोंको धारण करना दाताकी विशेषता कहलाती है मोक्षके कारण जो गुण है उनको धारण करना पात्रकी विशेषता है इसप्रकार विधि द्रव्य दाता और पात्र की विशेषता होनेसे दानमे विशेषता होती है और दानमे विशेषना होनेसे उसके फलमे विशेषता होती है। सत्पात्रोपगतं दानमित्यादि—

अर्थात्—जिसप्रकार अच्छे क्षेत्रमे छोटा-सा भी बीज बोया जाता है तो भी उसपर अनेक बड़े २ फल लगते है उसीप्रकार श्रेष्ठ पात्रको यदि थोड़ा-सा भी दान दिया जाय तो भी उसका बड़ा भारी फल प्राप्त हुआ करता है।

दानके फलकी विशेषतासे ही श्रीषेणने उत्तम भोग भूमिमे जन्म लेकर दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए अपूर्व सुखका अनुभव किया था।

इसीप्रकार दानकी अनुमोदना करनेसे रतिवर कबूतर और रतिवेगा कबूतरीने भी सुखोका अनुभव किया था। रतिवर कबूतर तो दानकी अनुमोदनासे विजयार्द्ध पर्वतपर बसनेवाले गांधार देशकी सुशीमा नगरीके राजा आदित्यगतिके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ और रतिवेगा कबूतरी उसी विजयार्द्ध पर्वतपर गिरि नामके देशके भोगपुर नामके नगरके राजा वायुरथकी प्रभावती नामकी पुत्री हुई थी। इन दोनोंका परस्पर विवाह हुआ था और दोनोंको जाति कुल आदिके द्वारा सिद्ध हुई अनेक विद्याएं प्राप्त थीं इसलिए उन विद्याओके प्रभावसे उन दोनोने अनेक तरहके सुखो का अनुभव किया था।

ऊपर जो हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप बतलाये है उनका त्याग (एकदेश त्याग) करनेवाले श्रावकको जूआ खेलना, मद्य सेवन करना और मांस भक्षण करनेका भी त्याग कर देना

चाहिए यही महापुराणमें भी लिखी है। हिंसासत्यस्तेयादित्यादि।

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रहसे विरक्त होना तथा जूआ मांस और मद्यका त्याग करना ये आठ गृहस्थोंके मूलगुण कहलाते है। जूआ खेलनेसे सदा राग-द्वेष मोह ठगी झूठ आदि पैदा होते रहते है धनका नाश भी होता है और जूआ खेलनेवाला लोगोंमें अविश्वास पात्र गिना जाता है। इसके सिवाय यह जूआ खेलना सातों व्यसनोंमें सबसे प्रधान है। सबसे मुख्य हैं इसलिए जूआ खेलनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। देखो इसी भरतक्षेत्रके कुलाल नामके देशमें श्रीवस्तिपुर नगरका राजा महाराजसुकेतु बड़ा ही ऐश्वर्यशाली और सुखी राजा था परन्तु जूआ खेलनेके व्यसनमें पड़कर वह अपना सब खजाना हार गया सर्व राज्य हार गया और सब अंतःपुर हार गया तथा उसे अनेक तरहके महादुःख भोगने पड़े। इसी तरह राजा युधिष्ठिरको भी जुआ खेलनेसे राज्यसे भ्रष्ट होना पड़ा तथा बड़ी ही दुःखमयी अवस्था भोगनी पड़ी।

अहिंसा व्रतकी रक्षा करनेके लिए मांसका त्याग करना भी आवश्यक है मांस भक्षण करनेवालेकी साधु लोग भी निन्दा करते हैं और परलोकमें भी उसे बहुतसे दुःख भोगने पड़ते है। इसी बातको अन्य लोगोंने भी कहा है—मांसं भक्षयति प्रेत्येत्यादि।

अर्थात्—बुद्धिमान लोग मांस शब्दका अर्थ यही बतलाते हैं कि इस जन्ममें जिसका मांस खाता है वह भी परलोकमें मुझे अवश्य खायगा (मांस अर्थात् वह मुझे खायेगा यही मांस शब्दका अर्थ हैं) मांस प्राणियोंका शरीर है प्राणियोंके शरीरको विदारण किये बिना वह मिल नहीं सकता इसलिए सभी जैनी लोग उस मांसका परित्याग सदाके लिए कर देते है।

देखो राजा कुंभके भीम नामका रसोइया था किसी एक दिन उसे तिर्यंचका मांस नहीं मिला इसलिए उसने एक मरे हुए बालकका मांस पकाया और उसमें सब मसाले डालकर राजा कुंभको दिया। उसे भी वह

बहुत अच्छा लगा और तबसे वह मनुष्योके मांस खानेका लोलुपी होगया यह बात वहांकी प्रजाको मालूम हुई और अब यह राज्यके अयोग्य है, यह समझकर उसे राज्यसे अलग कर दिया।

इसीतरह विंध्याचलके मलयकुटज वनमे खदिरसार नामका भीलों का राजा था उसने किसी एक दिन समाधिगुप्त नामके मुनिराजके समीप जाकर उन्हे प्रणाम किया, मुनिराजने भी उत्तरमे धर्मलाभ हो, ऐसा कहा। इसपर खदिरसारने पूछा कि धर्म क्या है और लाभ किसे कहते है ? इसके उत्तरमें मुनिराजने कहा कि मांसादिकका त्याग करना धर्म है और उसका प्राप्त होना लाभ है धर्मकी प्राप्ति होनेसे अर्थात् धर्मपालन करनेसे स्वर्ग आदिके सुख प्राप्त होते हैं। इसपर खदिरसारने कहा कि मै उन सबका (सब तरहके मांसका) त्याग नहीं कर सकता। तब मुनिराजने उसका अभिप्राय समझकर पूछा कि क्या तूने पहिले कभी कौएका मांस खाया है या नहीं ? इसके उत्तरमे खदिरसारने कहा कि आजतक मैंने कौएका मांस कभी नहीं खाया है। यह सुनकर मुनिराजने कहा कि अच्छा जब तैंने कौए का मांस आजतक नही खाया है तो अब उसके न खानेका वृत स्वीकार कर। इसप्रकार मुनिराजके उपदेशसे उसने वृत स्वीकार किया और मुनि-राजको नमस्कार कर अपने घर चला गया। उसके बाद किसी एकसमय उसी खदिरसारको कोई रोग होगया उसपर वैद्योने उपाय बताया कि कौएका मांस खानेसे इसका रोग शांत हो जायेगा। इसपर खदिरसारने प्रतिज्ञाकी कि कंठगत प्राण हो जाने पर भी मै यह काम नहीं कर सकता। मैंने मुनिराजके समीप कौएके मांसके त्याग करनेका वृत स्वीकार किया है। अपनी प्रतिज्ञा भंग करनेसे सत्पुरुषपना कैसे रह सकता है ? इसलिए मैं कौएका मांस कभी नहीं खाऊंगा। जब खदिरसारने ऐसी प्रतिज्ञा की तब उसका अभिप्राय जानकर उसे कौएका मांस खिलानेके लिए सौरपुर नगरका राजा शूरवीर नामका उसका बहनोई अपने नगरसे आने लगा।

उसने गहन वनमे बड़के वृक्षके नीचे एक स्त्रीको रोते हुए देखा और उससे पूछा कि बतला तू अकेली बैठी हुई यहां क्यो रो रही है ? उसके उत्तरमें उस स्त्रीने कहा कि मै यक्षी हूं। तेरा साला जो बहुत अधिक बिमार है और जिसने कौएके मांस भक्षण करनेके त्याग करनेका वृत लिया है वह उस वृतके फलसे मरकर मेरा पति होनेवाला है परन्तु तुम लोग जाकर उसे कौएका मांस खिलाकर उसे नरकमे भेजनेका काम कर रहे हो इसीलिए मैं रो रही हूं। उस स्त्रीकी यह बात सुनकर उससे शूरवीरने कहा कि तू विश्वास रख मै यह काम नहीं करूंगा अर्थात् उसे कौएका मांस नहीं खिलाऊंगा ऐसा कहकर वह अपने सालेके पास पहुंचा उसे देखकर वह कहने लगा कि शरीरका रोग दूर करनेके लिए तुझे मांसका उपयोग करना चाहिए अपने प्यारे बहनोई वा सालेके वचन सुनकर खदिरसारने कहा कि हे शूरवीर तू मेरे प्राणोके समान प्यारा भाई है तुझे मेरे कल्याण करनेवाले ही वचन कहने चाहिए परन्तु ये तुम्हारे वचन मेरा कल्याण करनेवाले नहीं है क्योकि ये वचन मुझे नरक गतिमे लेजानेवाले है। इस प्रकार यदि मुझे मरना पड़ेगा तो मर जाऊंगा परन्तु अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूंगा इस प्रकार उसका वचन सुनकर और उसका अभिप्राय जानकर शूरवीरने उसके लिए उस यक्षीका कहा हुआ सब हाल कहा। उसे सुनकर खदिरसारने भी अहिंसा आदि श्रावकके सम्पूर्ण वृत धारण कर लिये और आयुके अन्तमें मरकर वह सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। इधर शूरवीरने उसकी अंतिम सब क्रियाये कीं और फिर अपने नगरको चलने लगा। मार्गमे वही यक्षी फिर मिली उससे उसने पूछा कि वह मेरा साला तेरा पति हुआ ? इसके उत्तर मे उस यक्षीने कहा कि उसने श्रावकके समस्त वृत स्वीकार कर लिए थे इसलिए वह व्यंतर देवोकी गौण गतिमे उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु गौण देव गतिसे विमुख होकर सौधर्म स्वर्गमे उत्तम देव हुआ है इसलिए वह मेरे पति होनेसे छूट गया है और उत्तम दिव्य भोगोका अनुभव कर रहा है।

यक्षीकी यह बात सुनकर वह अपने हृदयमें विचार करने लगा कि देखो वृतोंका प्रभाव कैसा है ? यह वृतोंका प्रभाव इच्छानुसार समस्त फल देने में समर्थ है यही निश्चयकर उसने श्री समाधिगुप्त मुनिके समीप श्रावकके समस्त वृत स्वीकार कर लिए। इधर खदिरसारने दो सागर तक दिव्य भोगोंका अनुभव किया और भोगोका निदानकर आयु पूरी होनेपर वहांसे च्युत हुआ तथा प्रत्यंतपुर नामके नगरमे सुमित्र नामक मित्र राजाका पुत्र उत्पन्न हुआ। वहांपर उसने सम्यग्दर्शन रहित होकर तपश्वरण किया और मरकर व्यंतर देव हुआ फिर वहांसे आकर राजा कुणिककी रानी श्रीमती देवीके श्रेणिक नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे यह सिद्ध है कि मांस भक्षण करनेका प्रत्यक्ष फल भी बुरा है और परोक्ष फल भी बुरा है।

मद्यसेवन करनेवालोंको (शराब आदि नशेकी चीजे खाने पीने वालोको) तो हित अहितका कुछ विचार नही रहता। क्या कहना चाहिए क्या नहीं, कहां जाना चाहिए कहां नहीं, तथा क्या करना चाहिए क्या नहीं, आदि किसी बातका ध्यान नही रहता है। जो मनुष्य मद्यसेवन करता है उसकी स्मरण शक्ति सब नष्ट हो जाती है और जिसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है वह कौनसा पापकार्य नहीं कर सकता, कौनसा वचन नहीं कह सकता, और कौनसे कुमार्गमे नहीं जा सकता ? अभिप्राय यह है कि मद्यका सेवन करना सब दोषोका स्थान है। इसी बातको दिखलाने वाली एक कथा यहांपर लिखी जाती है।

कोई एक बृाह्मण बड़ा ही गुणवान था। वह गंगा नहानेके लिए चला, मार्गमे वह एक जंगलमे होकर जा रहा था कि इतनेमें हंसी मजाक करनेवाले और मद्यके मदसे उन्मत्त हुए एक भीलने आकर उसे रोक लिया। भीलके साथ उसकी स्त्री भी थी। भीलने उस ब्राह्मणको रोक कर कहा कि तुम या तो मांस भक्षण करो, या मद्य सेवन करो (शराब पीओ) अथवा इस स्त्रीके साथ संसर्ग करो यदि इन तीनोंमेसे तुम कोई भी

काम न करोगे तो मै तुम्हें मार डालूंगा ब्राह्मण देवता उस भीलकी यह बात सुनकर बड़े विचारमे पड़ गए, सोचने लगे कि मांस प्राणियोका अंग है उसके भक्षण करनेसे बड़ा भारी पाप लगेगा और इस भीलनीके साथ संसर्ग करनेसे जातिका नाश हो जायेगा। हां यह, मद्य केवल आटा पानी गुड़ और धायके फूल आदिसे बना है इसलिए यह निर्दोष है इसके पीनेमें कोई दोष नहीं है, यही समझकर उसने वह मद्य पी डाला। जब वह बेहोश हुआ और उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो गई तब उसने अगम्यगमन (उस-भीलनीके साथ संसर्ग) भी किया, अभक्ष्य भक्षण (मांसका भक्षण) भी किया। देखो मद्य पीनेवालोंके अपराधसे ही द्वीपायन मुनिको क्रोध हुआ था तथा उसी क्रोधसे द्वारावती नगरी सब जल गई थी और यादव लोग सब नष्ट हो गये थे। मत्तो हिनस्ति सर्वमित्यादि

अर्थात्—शराबके नशेमें मदोन्मत्त होकर यह जीव सब जीवोंकी हिंसा करता है, विवेक रहित होकर मिथ्या प्रलाप करता है, और माताके साथ भी कामवासना प्रगट करता है, इसलिए मद्यका सेवन सब पापोंसे भरा हुआ है।

अब आगे शेष प्रतिमाएं बतलाते हैं—सामायिक सवेरे दुपहर और शाम तीनों समय करना चाहिए और वह तीनों लोकोके स्वामी भगवान जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर आगे जो व्युत्सर्ग नामका तपश्चरण कहेंगे उसमें कहे हुए क्रमके अनुसार करना चाहिए। द्विनिषण्णं इत्यादि—

अर्थात् खड़े होकर अथवा बैठकर इन दो ही आसनोंसे उत्पन्न हुए बच्चेके समान निर्विकार होकर चारों दिशाओंमें बारह आवर्त करना चाहिए। चारों दिशाओंमें चार नमस्कार करना चाहिए, मन-वचन-काय तीनोंको शुद्ध रखना चाहिए और इस तरह अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिए।

पहिले—जो सात शीलोंके अन्तर्गत सामायिक कहा है वही सामायिक

इस सामायिक प्रतिमा-पालन करनेवाले श्रावकके व्रत हो जाता है और दूसरी व्रत प्रतिमा पालन करनेवालेके वही सामायिक शीलरूपसे रहता है।

प्रोषधोपवास प्रत्येक महिनेके चारो पर्वोमे अपनी शक्तिको न छिपाकर तथा प्रोषधके सब नियमोको मानकर करना चाहिए। व्रती श्रावकके जो प्रोषधोपवास शीलरूपसे रहता था वही प्रोषधोपवास इस चौथी प्रतिमा-वालेके व्रतरूपसे रहता है।

सचित्त विरत प्रतिमावाला दयाकी मूर्ति होता है और वह मूल, फलशाखा, करीरकंद, पुष्प, और बीज आदिकोको कभी नहीं खाता है। उपभोग परिभोगपरिमाण शीलके जो अतिचार है उनका त्याग ही इस पांचवीं प्रतिमावालेके व्रत कहलाता है।

छट्ठी प्रतिमाका रात्रिभक्तव्रत नाम है। रात्रिमें ही स्त्रियोंके सेवन करनेका व्रत लेना अर्थात् दिनमे ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा लेना रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रिभोजनत्यागके अतिचार त्याग करना ही रात्रिभक्त व्रत है।

सातवीं प्रतिमाका नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है इस प्रतिमाका पालन करनेवाला ब्रह्मचारी समझता है कि यह शरीर शुक्र शोणितसे (पिताके वीर्य और माताके रुधिरसे) बना हुआ है, रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र (वीर्य) इन सातो धातुओसे भरा हुआ है अनेक इंद्रिय ही इसके विल है। मल मूत्रका यह पात्र (बर्तन) है अनेक छोटे कीड़ोंके समूहोसे भरा हुआ है अनेक तरहके रोगोसे व्याप्त है प्रायः नश्वर है अथवा नाश करनेवाला है और अंतमे या तो इसमे अनेक कीड़े पड़ जायेगे जला दिया जायेगा अथवा कोई खाकर विष्ठा बना देगा। इसप्रकार शरीर को समझकर वह कामदेवसे सदा विरक्त रहता है।

आठवीं प्रतिमा आरम्भत्याग है इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक प्राणियोंकी हिंसा होनेके कारण असि मसि कृषि वाणिज्य आदि

आरम्भोंसे विरक्त रहता है अर्थात् उनका त्याग कर देता है।

नोवां प्रतिमाका नाम परिग्रह त्याग है इसप्रतिमाको धारण करने वाला श्रावक समझता है कि यह परिग्रह क्रोधादि कषायोंको, आर्त रौद्र अशुभ ध्यानोंकी, हिंसा आदि पांचों पापोंकी और डरकी जन्मभूमि है अर्थात् ये सब परिग्रहसे ही उत्पन्न होते हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान इस परिग्रहसे दूर भाग जाते हैं यही समझकर वह दशप्रकारके बाह्य परिग्रहोंका त्याग कर देता है और सब परिग्रहसे अलग तथा विशुद्ध होकर संतोष धारण करनेमें तल्लीन हो जाता है।

दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमति त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारण करनेवाला श्रावक आहार आदि आरंभकार्योंमें सम्मति देनेका त्याग कर देता है।

ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक अपने निमित्त बनाये हुए भोजन उपधि शय्या और वस्त्र आदिका त्याग कर देता है। केवल एक चादर धारण करता है भिक्षावृत्तिसे भोजन करता है तथा बैठकर पाणिपात्रसे ही भोजन करता है। वह रात्रि प्रतिमा आदि तपश्चरण करनेमें तत्पर रहता है परन्तु आतापन आदि योगोंको धारण नहीं करता।

यदि अणुवृती और महावृती दोनों ही समितियोंको पालन करें तो संयमी कहलाते हैं यदि ये दोनों ही समितियोंका पालन न करें तो विरत अथवा वृती कहलाते हैं। यही बात वर्गणा खंडके वंदनाधिकारमें लिखी है।

अर्थात्–संयम और विरति (अथवा वृती) में क्या भेद हैं? जो समितियोंके साथ-साथ महावृत और अणुवृत हो तो संयम समझना चाहिए। यदि समितियोंके बिना ही महावृत और अणुवृत हो तो विरति अथवा वृत समझाना चाहिए।

जिनागम और जैनियोंमे इन ग्यारह प्रतिमाओंमे से पहिलेकी छह

प्रतिमा जघन्य मानी जाती है इनके बादकी तीन अर्थात् सातवीं आठवीं और नौवीं प्रतिमाऐ मध्यम मानी जाती है और बाकीकी दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमाऐ उत्तम मानी जाती है ।

यद्यपि असि मषि कृषि वाणिज्य आदि आरंभ कर्मोसे गृहस्थोके हिंसा होना सम्भव है तथापि पक्षचर्या और साधकपना इन तीनोंसे हिंसा का निवारण किया जाता है । इनमेसे सदा अहिंसारूप परिणाम करना पक्ष है गृहस्थी लोग धर्मके लिए, किसी देवताके लिए, किसी मंत्रको सिद्ध करनेके लिए, औषधिके लिए, आहारके लिए, और अपने भोगोपभोगके लिए कभी हिंसा नहीं करते है । यदि किसी कारणसे हिसा हो गई हो तो विधिपूर्वक प्रायश्चित कर विशुद्धता धारण करते है । तथा परिग्रहका त्याग करनेके समय अपना घर और धर्म अपने वंशमे उत्पन्न हुए पुत्र आदि को समर्पण कर जबतक वे घरको परित्याग करते है तबतक उनके चर्या कहलाती है ।

इसीतरह जिसमे सम्पूर्ण गुण विद्यमान है, जो शरीरका कंपना, उच्छ्वासलेना नेत्रोका खोलना आदि क्रियाओका त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोकके ऊपर विराजमान सिद्धोमे लगा हुआ है ऐसे समाधि-मरण करनेवालेका शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है । इस-प्रकार पक्षच्चर्या और साधकत्व इन तीनोंसे गृहस्थोके हिंसा आदिके इकट्ठे किये हुए सब पाप नष्ट हो जाते है ।

जैन शास्त्रोमें चार आश्रम है । उपासकाध्ययनमे भी लिखा है— ब्रह्मचारी इत्यादि ।

अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोके चार आश्रम सातवे उपासकाध्ययन अंगसे निकले है ।

इनमे भेदसे ब्रह्मचारी पांच प्रकारके होते है उपनय, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ़ और नैष्ठिक । जो गणधर सूत्रको धारण कर अर्थात् मौंजी-

बंधनविधिके अनुसार यज्ञोपवीतको धारण कर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोका अभ्यास करते है और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते है उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते है। जो क्षुल्लकका रूप धारणकर शास्त्रोंका अभ्यास करते है और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते है। जो बिना ही ब्रह्मचारीका भेष धारण किये शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते है उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते है। जो कुमार अवस्थामें ही मुनि होकर जैन शास्त्रोंका अभ्यास करते है तथा पिता भाई आदि कुटुम्बियोंके आग्रहसे अथवा घोर परीषहोंके सहन न करनेसे किंवा राजाकी किसी विशेष आज्ञासे अथवा अपने आपही जो परमेश्वर भगवान अरहन्तदेवकी दिगम्बर अवस्था छोड़-कर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं। समाधि धारण करते समय शिखा (चोटी) धारण करनेसे जिसके मस्तकका चिह्न प्रगट हो रहा हैं यज्ञोपवीत धारण करनेसे जिसका उरोलिंग (वक्षस्थलका चिह्न) प्रगट हो रहा है सफेद अथवा लाल वस्त्रके टुकड़ेकी लंगोटी धारण करनेसे जिसकी कमरका चिह्न प्रगट हो रहा है जो सदा भिक्षा-वृत्तिसे अपना निर्वाह करते हैं जो स्नातक वा वृती है और जो सदा जिन-पूजा आदि करनेमे तत्पर रहते हैं उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह गृहस्थोंके आर्यकर्म कहलाते है। इनमें भी अरहंत भगवानकी पूजा करना इज्या कहलाती है, उस इज्याके नित्यमह, चतुर्मु ख, कल्पवृक्ष, अष्टाह्निक और ऐंद्रध्वज ये पांच भेद है। प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार अपने घरसे गंध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनभवनके लिए चढाना अथवा जिन भवनमे अरहन्त देवकी पूजा करना, जिनभवन अथवा जिन प्रतिमाका कराना, तथा जिन प्रतिमा वा जिनभवनके लिए राज्यके नियमानुसार सनदपत्र लिखकर गांव खेत आदि समर्पण करना तथा मुनिलोगोंकी पूजा

करना आदिको नित्यमह कहते है। मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो पूजा की जाती है उसे चतुर्मुख कहते है महामह और सर्वतोभद्र भी इसीके नामांतर है। समस्त याचकोंको उनकी इच्छानुसार धनसे संतुष्टकर जो चक्रवर्तीके द्वारा पूजा की जाती है उसे कल्पवृक्ष कहते है। अष्टाह्निक पूजा प्रसिद्ध ही है अर्थात् नंदीश्वर पर्वके दिनोमे जो पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निक कहते है। इंद्र, प्रतींद्र, आदिके द्वारा जो पूजा की जाती है उसे ऐन्द्रध्वज कहते है इनके सिवाय बलि अर्थात् नैवेद्य समर्पण स्नपन अर्थात् अभिषेक तीनो समय तीनोलोकोंके स्वामी भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना अभिषेक करना आदि भेद तथा और भी पूजाके विशेष भेद बहुतसे होते है असि (तलवार आदि शस्त्र) मषि (स्याही लिखनेका काम) कृषि (खेती) वाणिज्य (व्यापार) आदि शिल्प कर्मोके द्वारा अपनी शुद्ध प्रवृत्ति रखकर धन उपार्जन करना वार्ता है। दान देनेको दत्ति कहते है वह दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्तिके भेदसे चार प्रकार है जिनपर अनुग्रह करना आवश्यक है ऐसे दुःखी प्राणियोको दया पूर्वक मन-वचन-कायकी शुद्धतासे अभय दान देना दयादत्ति है। महा तपश्चरण करनेवाले मुनियोको प्रतिग्रह पूजन आदि नवधा भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार देना तथा ज्ञान संयमके शास्त्र पीछी कमंडलु आदि उपकरण देना पात्रदान वा पात्रदत्ति है, अपने समान क्रियाओंको करनेवाले मित्रोंके लिए उत्तम निस्तारक वा गृहस्थाचार्यके लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ रत्न आदि देना, यदि अपने समान क्रिया करनेवाले न मिले तो मध्यमपात्र के लिए ही कन्या आदि देना समदत्ति है। अपनी निजकी संतान सदा कायम रखनेके लिए पुत्रको अथवा अपने गोत्रमे उत्पन्न हुए किसी पुरुषको अपना धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है अन्वयदत्ति भी इसी का नाम है। तत्त्वज्ञानको पढ़ाना पढ़ना स्मरण करना आदि स्वाध्याय है पांचो अणुव्रतोमे अपनी प्रवृत्ति रखना संयम है और उपवास आदि बारह

तरहका तपश्चरण करना तप है।

इसप्रकार आर्योंके जो छह कर्म है उनमें तत्पर रहनेवाले गृहस्थ कहलाते है और वे दो प्रकारके होते है जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके भेदसे जातिक्षत्रिय चार प्रकारके हैं और अपनी जीविकाके भेदसे तीर्थक्षत्रिय अनेक प्रकारके है। जिन्होने भगवान अरहंत देवका दिगम्बर रूप धारण नहीं किया है और जो खंड-वस्त्रोको धारणकर निरतिशय तपश्चरण करनेमे तत्पर रहते है उन्हे वान-प्रस्थ कहते है भगवान अरहन्त देवकी दिगम्बर अवस्थाको धारण करने-वाले भिक्षु कहलाते है उनके अनगार यति मुनि और ऋषिके भेदसे बहुतसे भेद होते हैं। साधारण साधुओंको अनगार कहते है। जो उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणीमे विराजमान है उन्हे यति कहते है, अवधिज्ञानी मनःपर्यय और केवलज्ञानियोको मुनि कहते है जिन्हे ऋद्धियां प्राप्त हो चुकी हैं उन्हें ऋषि कहते है राजर्षि ब्रह्मर्षि देवर्षि और परमर्षिके भेदसे ऋषि चार प्रकारके होते है जिन्हें विक्रियाऋद्धि और अक्षीणऋद्धि प्राप्त हो चुकी है उन्हे राजर्षि कहते है बुद्धि और औषधिऋद्धिको धारण करनेवाले ब्रह्मर्षि है आकाशगामिनी ऋद्धिको धारण करनेवाले देवर्षि हैं और केवलज्ञानी परमर्षि कहलाते है। लिखा भी है—देशप्रत्यक्ष इत्यादि।

अर्थात्—यति मुनि ऋषि और अनगार ये चार मुख्य भेद हैं। सामान्य साधुओंको अनगार कहते हैं, जो उपशमश्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी पर आरूढ है उनको यति कहते है अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी और केवल-ज्ञानियोको मुनि कहते है और जिनको ऋद्धियां प्राप्त हुई है उन्हे ऋषि कहते है। ऋषियोके चार भेद है राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि, जिनको विक्रिया ऋद्धि और अक्षीणऋद्धि प्राप्त हुई है उनको राजर्षि कहते है, बुद्धि और औषधि ऋद्धिको धारण करनेवाले ब्रह्मर्षि कहलाते है जिन्हे आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त हुई है उन्हे देवर्षि कहते है और केवल-

प्रकार जिन जिनमे विशेष प्रेम था उनका बार बार स्मरण करना सुखानुबंध है। विषय सुखोकी अत्यन्त अभिलाषा होनेके कारण अथवा भोगोकी आकांक्षा होनेके कारण उन्हीं भोगोपभोगोमे चित्तका सदा लगा रहना अथवा उन्हीं भोगोपभोगोके द्वारा चित्तमे सदा चिंतवन बना रहना निदान है। इसप्रकार सल्लेखनाके पांच अतिचार है।

इसप्रकार श्री चामुडरायप्रणीत भावना सग्रहके अन्तर्गत चारित्रसारमे
सागारधर्मका निरूपण समाप्त हुआ।

षोडशभावनाप्रकरणम् ।

आगे सोलह भावनाये लिखते है—इस संसारमे तीर्थकर नामकर्म और गोत्रकर्म मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए केवलज्ञानी जीवोके सहकारी कारणो के सम्बन्धको प्रारंभ करनेवाला है अर्थात् तीर्थकर नामकर्मका बन्ध हो जानेसे फिर केवलज्ञान उत्पन्न होनेकी सामग्री अपने आप मिल जाती है उस कर्मका उदय ही सब सामग्री इकट्ठी कर देता है इसके सिवाय उस कर्मके उदयका प्रभाव अनंत और उपमारहित है, वह स्वयं जिसका चिंतवन भी नही किया जा सकता ऐसी विशेष विभूतिका कारण है और तीनों लोकोका विजय करनेवाला है, इसलिए ऊपर जिन ग्यारह प्रकारके श्रावकों का वर्णन कर चुके है उन्हें आगे कहे हुए उत्तमक्षमा आदि दश धर्मोको धारणकर उस तीर्थंकर नामकर्म और गोत्रकर्मकी कारणभूत सोलह भावनाओंका चिन्तवन करना चाहिए। आगे उन्हीं सोलह भावनाओको बतलाते है—दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग शक्तितस्तप, साधु समाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये सोलह भावनाएं है। भगवान अर्हतदेवके कहे हुए निर्ग्रन्थरूप मोक्ष मार्गमे श्रद्धा प्रतीति वा विश्वास

रखना सम्यग्दर्शन है। उसकी विशुद्धिके बिना केवल सम्यग्दर्शन होने मात्रसे तीर्थकर नाम कर्मका बन्ध नहीं होता। वह विशुद्ध सम्यग्दर्शन चाहे प्रथमोपशमिक हो चाहे द्वितीयोपशमिक हो, चाहे क्षायोपशमिक हो और चाहे क्षायिक हो परन्तु उसमें तीन मूढता और आठों मदोसे रहित होनेके कारण अपने आत्माका निजस्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिए ऐसे विशुद्ध सम्यग्दर्शनसे तीर्थकर नामकर्मका बन्ध होता है। आगे उसकी विशुद्धता बतलाते है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तपश्चरण और चारित्रकी विनय करनेमे अर्थात् इनको पालन करनेमे तथा इनको पालन करनेवाले मुनियों की विनय करनेमे अपनी प्रवृत्ति रखना, अपना उपयोग निरन्तर ज्ञानरूप होनेमे तथा संवेग धारण करनेमें अपनी प्रवृत्ति रखना, साधुओको प्रासुक आहार आदिके दान देनेमे अपनी प्रवृत्ति रखना, बारह प्रकारके तपश्चरण करनेमे अपनी प्रवृत्ति रखना, साधु समाधि और वैयावृत्य करनेमे प्रवृत्ति रखना, अरहन्तकी भक्तिमे प्रवृत्ति रखना, व्रत शील और आवश्यकोंको पालन करनेवाले आचार्योकी भक्तिमे प्रवृत्ति रखना, उपाध्यायोंकी भक्ति मे प्रवृत्ति रखना और शास्त्रोकी भक्तिमे प्रवृत्ति रखना, जिनमार्गकी प्रभावना और साधर्मियोंके साथ गाढ प्रेम करनेमें अपनी प्रवृत्ति रखना वह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता कहलाती है। ऐसी सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता अकेली ही तीर्थकर नामकर्मके बन्धका कारण होती है क्योकि बाकीकी पन्द्रह भावनाएं भी सब उसी एक दर्शन विशुद्धिमें ही शामिल हो जाती हैं इस प्रकार दर्शन विशुद्धताका व्याख्यान किया अब आगे अनुक्रमसे शेष भावनाओको कहते है।

अपनी योग्यताके अनुसार मोक्षके कारणरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका आदर सत्कार करना तथा इन सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके कारणोको पालन करनेवाले गुरु आदिकोका अपनी योग्यताके अनुसार आदर सत्कार करना अथवा कषाय नोकषायोंका त्यागकर देना विनय

सम्पन्नता है। अहिंसा आदि व्रतोमें तथा उन व्रतोंका पालन वा रक्षा करनेवाले शीलोमे अथवा क्रोधादि कषायोके त्याग करनेमे मन-वचन-कायकी निर्दोष प्रवृत्ति होना शीलव्रतेष्वनतीचार है। भावार्थ—शील और व्रतोका अतिचार रहित निर्दोष पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार कहलाता है। मति-श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल आदिको ज्ञान कहते है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीतिसे आत्मतत्त्वके विषयभूत जीवादि पदार्थोका ज्ञान होना अथवा ज्ञान होनेके बाद ही उनकी अज्ञानताका दूर होना उस ज्ञानका फल है अथवा हितकी प्राप्ति अहितका परिहार और जो हिताहित दोनोसे रहित है उसकी उपेक्षा करना यही उस ज्ञानका तत्कालीन फल है ऐसे ज्ञानकी भावना करनेमे सदा लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। संसारके दुःख शारीरिक और मानसिक आदिके भेदसे अनेक तरहके होते है तथा अपने इष्टजनोका वियोग हो जाना, अनिष्ट पदार्थोका संयोग हो जाना और इच्छानुसार पदार्थोका न मिलना आदि अनेक तरहसे उत्पन्न होते हैं इसके सिवाय वे इस जीवको अत्यन्त कष्ट देनेवाले है इसलिए ऐसे संसारके दुःखोंसे सदा डरते रहना संवेग कहलाता है। पात्रके लिए दिया हुआ आहारदान केवल उसी दिन उसको संतुष्ट करनेका कारण होता है तथा अभयदान देनेसे उसके एक भवके दुःख दूर होते है और सम्यग्ज्ञानका दान देना अनेक भवोके सैकड़ो हजारों दुःखोंसे पार कर देना है इसलिए विधिपूर्वक आहारदान अभयदान और ज्ञानदान देना त्याग कहा जाता है। यह शरीर अनेक दुःखोका कारण है तथा अनित्य और अपवित्र है इसलिए इसकी इच्छानुसार भोगोपभोगके द्वारा इसको पुष्ट करना ठीक नही है। यद्यपि यह अपवित्र है तथापि रत्नत्रयरूप गुणोके संचय करनेमे कुछ उपकार अवश्य करता है यही समझकर जिसने विषयसुखोका संबंध बिल्कुल छोड़ दिया है और जो इस शरीरको सेवकके समान अपने आत्मकल्याण करने रूप कार्यमे सदा लगाये रहता है ऐसे साधुका अपनी शक्तिके अनु-

सार मोक्षमार्गका विरोध न करनेवाला उपवासादिक द्वारा काय क्लेश सहन करना तप है। जिसप्रकार किसी भांडारगारमे (चीजोंसे भरे हुए कोठेमे) अग्नि लग जाय तो उसे लोग बुझा देते है क्योंकि उस अग्निके बुझा देनेसे बहुतसा उपकार होता है उसीप्रकार अनेक वृत आदि गुणोंसे सुशोभित ऐसे मुनियोंके समूहके लिए अथवा किसी एक तपस्वीके लिए यदि किसी कारणसे उनके वृतादिकोंमे कोई विघ्न आ जाय तो उसको दूर करना साधुसमाधि है। अनेक गुणोंको धारण करनेवाले साधुओंको कोई दुःख उपस्थित होजाने पर निर्दोष विधिसे उस दुःखको दूर करना तथा अनेक तरहसे सेवा चाकरी करना वैयावृत्य है। केवलज्ञानरूपी दिव्य नेत्रों को धारण करनेवाले अरहन्तमे विशुद्ध भावोसे प्रेम रखना अर्हद्‌भक्ति है। श्रुतज्ञानरूपी दिव्य नेत्रोको धारण करनेवाले आचार्योमे विशुद्ध भावोंसे प्रेम रखना आचार्यभक्ति है। जिनकी प्रवृत्ति सदा दूसरोंका हित करने-वाली है और जो अपना आगम तथा परके आगमोको विस्तृत रीतिसे जाननेके कारण निश्चयनयसे कहे जाने योग्य वास्तविक तत्त्वोंके जानकार है ऐसे उपाध्यायोंमे विशुद्ध भावोसे अनुराग वा प्रेम रखना उपाध्याय भक्ति है तथा मोक्षपदरूपी राजभवनके चढनेके लिए जो सीढ़ियोंके समान बनाया गया है और श्रुत देवताके समीप रहनेवाले गुणोंके संयोगसे जो अत्यन्त दुरासद वा कठिन [कठिनतासे जानने योग्य है] है ऐसे शास्त्रोंमें विशुद्ध भावोसे अनुराग वा प्रेम रखना प्रवचन भक्ति कहलाती है। यह चारों ही प्रकारकी भक्ति मन-वचन-काय तीनोसे करनी चाहिए। इन तीनोसे करनेके कारण वह तीन प्रकारकी कही जाती है। सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, बंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं कहलाती है। पापरूप समस्त योगोंका त्याग करना अथवा एक ज्ञानके द्वारा चित्तको निश्चल रखना अथवा शत्रु, मित्र, मणि, पाषाण, सुवर्ण, मिट्टी, जीना, मरना और लाभ अलाभ आदिमे रागद्वेषका

त्याग करना सामयिक है। चौबीस तीर्थकरोंके पुण्यरूप गुणोका कीर्तन करना चतुर्विशतिस्तव है। मन-वचन-कायको शुद्ध रखकर खड़े होकर अथवा बैठकर चारो दिशाओमे चार शिरोनति करना तथा बारह आवर्त करना आदि वंदना है। इस वंदनाको आगे विस्तारके साथ लिखेगे। अतीत दोषोको दूर करना प्रतिक्रमण है और आगे होनेवाले दोषोका परित्याग करना प्रत्याख्यान है। परिमित समयके लिए शरीरसे ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग है। इन छहों क्रियाओको अपने यथायोग्य समयपर करना किसी तरहका प्रमाद न करना आवश्यकापरिहाणि है। ज्ञान तपश्चरण और जिनपूजा आदि क्रियाओके द्वारा धर्मको प्रकाशित करना मार्ग प्रभावना है। सबसे उत्तम वचनोको प्रवचन कहते है। अथवा सब से उत्तम पुरुषके वचनोको प्रवचन कहते हैं, सिद्धान्त अथवा द्वादशांग आदि उसीके नामांतर है, उन सिद्धान्त शास्त्रोके अनुसार होनेवाले देशव्रती महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टियोको भी प्रवचन कहते है। उन सबमे अनुराग रखना, आकांक्षा रखना, उनमे ममत्वबुद्धि रखना प्रवचन वत्सलत्व कहलाता है। इस एक ही प्रवचन वत्सलत्वसे तीर्थकर नामकर्मका बन्ध हो जाता है क्योकि पंच महाव्रत आदि शास्त्रोमे कहे हुए पदार्थोमे जो उत्कृष्ट अनुराग है वह दर्शनविशुद्धि आदि पंद्रहो भावनाओसे अविनाभावी है। भावार्थ—प्रवचनवत्सलत्वके साथ साथ दर्शनविशुद्धि आदि पन्द्रह भावनाऐ अवश्य रहती है इसका भी कारण यह है कि बिना उन पन्द्रह भावनाओके प्रवचनवत्सलत्व हो ही नहीं सकता। इस तरह ये सोलह भावनाएं है। इनमे प्रत्येक भावना शेष पंद्रहों भावनाओकी अविनाभाविनी है अर्थात् जहां एक भावना रहती है वहां बाकीकी पन्द्रह भी अवश्य रहती हैं क्योकि शेष पन्द्रहोके बिना कोई भी एक नही हो सकती। इसलिए अच्छी तरह चिंतवन की हुई ये सोलह भावनाएं पृथक् २ अथवा सब मिल-कर तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव होनेमे कारण होती है। असंयत सम्यग्दृष्टि

से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थानके छह सात भागतक तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध हो सकता है।

इसप्रकार श्री चामुण्डरायप्रणीत चारित्रसारमे सोलह भावनाओका वर्णन समाप्त हुआ।

—※—

आगे अनगार धर्मका वर्णन किया जाता है —

अब आगे अनगार धर्म अर्थात् मुनियोके धर्मका वर्णन करते हैं। वह मुनियोका धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यके भेदसे दश प्रकारका है। इसमें जो उत्तम शब्द है वह अपनी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा आदिकी निवृत्तिके लिए है अर्थात् यदि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए या प्रसिद्ध होनेके लिए कोई पुरुष क्षमा धारण करे तो वह उत्तमक्षमा नही है, अथवा वह मुनियोके धर्ममे गिनी जाने योग्य उत्तम क्षमा नही है। उत्तमक्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य इसप्रकार उत्तमशब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जो पुरुष मोक्षमार्गमे अपनी प्रवृत्ति कर रहा है उसका प्रमाद दूर करनेके लिए इन दश प्रकारके धर्मोका निरूपण किया जाता है।

जो भिक्षु वा मुनि तपश्चरणको बढानेका कारण और शरीरको ठहरानेका निमित्त कारण ऐसे निर्दोष आहारको ढूंढनेके लिए दूसरेके घर जाते हैं उन्हे देखकर यदि कोई दुष्ट लोग उन्हे गाली दें, बुरे वचन कहें, उनका अपमान करे वा ताड़न करे अथवा शरीरका नाश करनेके लिए ही (जानसे मार डालनेके लिए ही) तैयार हो. ये सब तथा इनके सिवाय और भी क्रोध उत्पन्न करनेके निमित्त कारण मिल जांय तो भी जो मुनि अपने हृदयमे किसी तरहका संक्लेश परिणाम नही करते वह उनकी क्षमा कहलाती है। व्रत और शीलोकी रक्षा करना, इस लोक और परलोकके

दुःख दूर होना तथा समस्त संसारसे सन्मान और सत्कारकी प्राप्ति होना और समस्त संसारमे प्रसिद्ध होना आदि उत्तम क्षमाके गुण है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनचारो पुरुषार्थोका नाश होना आदि उस उत्तम क्षमाके प्रतिपक्षी क्रोधके दोष है यही समझकर क्षमा धारण करना चाहिए। तथा क्रोधके जो जो निमित्त कारण है उनका अपने आत्मामे भाव (अस्तित्व) और अभाव चिंतवनकर क्षमा धारण करना चाहिए। दूसरे दुष्टलोग जो क्रोध होनेका निमित्त कारण बतलाते है वह यदि अपने आत्मामे हो तो उसके अस्तित्वका चिन्तवन करना चाहिए अर्थात् यह जो कह रहा है वे सब दोष मुझमे विद्यमान है फिर यह मिथ्या थोड़ेही कहता है यही विचार कर उसे क्षमा कर देना चाहिए। यदि उसके कहे हुए दोष अपने आत्मामें न हो तो उनके अभावका चिन्तवन करना चाहिए अर्थात् यह जिन दोषों को कह रहा है वे मेरे आत्मामे नहीं है यह केवल अपने अज्ञानसे ऐसा कहता है यही समझकर उसे क्षमाकर देना चाहिए। अथवा उसके स्वभाव को बालकोके स्वभावके समान चिंतवन करना चाहिए और विचार करना चाहिए कि परोक्ष, प्रत्यक्ष, आक्रोशन, ताडन, मारण और धर्मभ्रंशनकी उत्तरोत्तर रक्षा तो होती है। इनकी उत्तरोत्तर रक्षा किसप्रकार होती है यही बात आगे दिखलाते है—यदि कोई बालक परोक्षमे गाली दे अथवा बुरे वचन कहे तो उसे क्षमा करते ही है क्योकि बालकोंका ऐसा स्वभाव होता ही है। यह मनुष्य भी मेरे अशुभ कर्मके उदयसे परोक्षमे गाली देता है या बुरे वचन कहता है प्रत्यक्षमे तो कुछ नहीं कहता, बालक तो प्रत्यक्ष में भी गाली देते या बुरे वचन कहते है। इसने प्रत्यक्षमे कुछ नहीं कहा यही मेरे लिए बड़ा भारी लाभ है। इसप्रकार समझकर क्षमा कर देना चाहिए। यदि वह प्रत्यक्षमे ही आकर गाली दे या बुरे वचन कहे तो भी यह समझकर उसे सहन करना चाहिए ऐसा करना भी बालकोका स्वभाव है। यह मेरे ही अशुभ कर्मके उदयसे प्रत्यक्षमे आकर मुझे गाली देता है

बालक तो मारते भी है यह मुझे मारता नहीं, बड़ा लाभ है। ऐसा मानकर उसे क्षमाकर देना चाहिए। यदि वह ताड़न भी करे मारे भी तो यह विचार करना चाहिए कि मेरे ही अशुभ कर्मके उदयसे यह मुझे मारता या ताड़न करता है, मुझे जानसे तो नहीं मारता, बालक तो जानसे भी मार डाला करते हैं इसने मुझे जानसे तो नहीं मारा यही मेरे लिए बड़ा लाभ है (यही समझकर उसे क्षमा कर देना चाहिए) यदि वह प्राण भी ले, जानसे भी मारे तो भी क्षमा ही धारण करना चाहिए और विचार करना चाहिए कि मेरे अशुभ कर्मके उदयसे यह मेरे प्राण लेता है मेरे आधीन जो धर्म है उससे मुझे भ्रष्ट तो नहीं करता। इन सब बातोंके सिवा उस साधु को यह भी चिंतवन करना चाहिए कि यह अपराध तो मेरा ही है पहिले जन्ममे मैंने ऐसे २ बड़े भारी पापकर्म किये थे उन्हींका यह फल हैं। ये बुरे वचन अथवा ताड़न आदि तो केवल निमित्तमात्र है। दुःख तो केवल अपने कर्मके उदयसे होता है यह मनुष्य तो मेरे आत्मासे पर है इसलिए यह तो दुःख दे ही नहीं सकता यही समझकर दुःखोंको सहन करना चाहिए और क्षमा धारण करना चाहिये।

उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम विज्ञान, उत्तम श्रुतज्ञान, उत्तम जप, उत्तम तप, उत्तम लाभ और उत्तम वीर्य आदिकी प्राप्ति होनेपर भी उनसे उत्पन्न होनेवाले मदका आवेश न होनेसे दूसरेके द्वारा किये हुये तिरस्कार आदिका निमित्त मिलने पर भी अभिमान न करना नम्रतासे रहना मार्दव है इसीका दूसरा नाम माननिर्हरण (अभिमान को मर्दन करना दूर करना) है। जो मनुष्य मार्दव गुणको धारण करता है उसपर गुरुभी अनुग्रह करते हैं और साधु लोग भी उसे श्रेष्ठ मानते हैं तथा ऐसा होनेसे अर्थात् गुरुका अनुग्रह होनेसे और साधुओंके द्वारा श्रेष्ठ माने जानेसे वह मोक्षके कारणभूत सम्यग्ज्ञान आदिका उत्तम पात्र बन जाता है और सम्यग्ज्ञानादिके उत्तम पात्र हो जानेसे उसे शीघ्र ही स्वर्ग

और मोक्ष फलकी प्राप्ति हो जाती है। इसके विपरीत जिसका हृदय अभिमानसे मलिन है उसके व्रतशील आदि कभी नहीं ठहर सकते, साधु लोग भी उसे छोड़ देते हैं और संसारकी समस्त विपत्तियां अभिमानके ही कारण उत्पन्न होती है। इसीलिए मार्दवधर्म धारण करना श्रेष्ठ है।

मन-वचन-काय इन तीनों योगोंको सरल रखना छल कपट न करना आर्जव कहलाता है। जिसका हृदय सरल है उसमे अनेक गुण आकर निवास करते हैं तथा जिसके हृदयमे छल कपट है उसमे एक भी गुण नहीं ठहर सकता, छल-कपट करनेवालेका संसारमे कोई भी विश्वास नहीं करता और परलोकमे भी उसे निंद्य गतिमे जन्म लेना पड़ता है। इसलिए आर्जव-धर्मका पालन करना सबसे उत्तम है।

अत्यन्त लोभका त्याग कर देना लोभकी प्रकर्षता न रखना शौच है। जिसके आचरण पवित्र है उसका इस लोकमे भी सब लोग आदर सत्कार करते है और विश्वास आदि समस्त गुण आकर उसमे निवास करते है। जिसके हृदयमें लोभकी भावना भरी रहती है, उसके हृदयमे किसी भी गुणको जगह नहीं मिलती। वह लोभ जीवित आरोग्य इंद्रिय और उपभोगके विषयोके भेदसे चार प्रकारका है तथा स्व-विषय और पर-विषयके भेदसे प्रत्येकके दो-दो भेद होते है जैसे स्वजीवित लोभ—अपने जीवित रहनेका लोभ करना, परजीवितलोभ—पुत्र, पौत्र आदि परके जीवित रहनेका लोभ करना; स्वारोग्यलोभ—अपने आरोग्य रहनेका लोभ करना, परारोग्यलोभ—दूसरेके आरोग्य रहनेका लोभ करना, स्वेंद्रियलोभ—अपनी इंद्रियोंके बनी रहनेका लोभ, परेंद्रियलोभ—दूसरेकी इंद्रियोके बनी रहनेका लोभ, स्वोपभोगलोभ—अपनी भोगोपभोग सामग्रीके बनी रहनेका लोभ, परोपभोगलोभ—दूसरेकी भोगोपभोग सामग्रीके बनी रहनेका लोभ। इस-प्रकार चार प्रकारका लोभ है इसलिए उसका त्याग करनेरूप शौच भी चार ही प्रकारका कहा जाता है।

श्रेष्ठ पुरुषोंके लिए उत्तम वचन कहना सत्य है। वह सत्य नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्यके भेदसे दश प्रकारका है। सचेतन वा अचेतन पदार्थका चाहे वह अर्थ न भी निकलता हो तो भी केवल व्यवहार चलानेके लिए जो किसीकी संज्ञा रखी जाती है उसको नामसत्य कहते है। जैसे किसी पुरुषका अथवा किसी अचेतन पदार्थका केवल व्यवहारमे पहिचाननेके लिए कोई इंद्र नाम रखले तो वह नामसत्य कहलाता है। पदार्थके उपस्थित न रहनेपर भी केवल उसके रूपको देखकर उस पदार्थका नाम कहना रूपसत्य है जैसे किसी पुरुषके बनाए हुए चित्रमें यद्यपि चैतन्यका संयोग नहीं है तथापि उसे पुरुष कहना रूपसत्य है। पदार्थके नहीं होते हुए भी किसी कार्यके लिए उसकी स्थापना करना स्थापनासत्य है जैसे चन्द्रप्रभकी प्रतिमामें चन्द्रप्रभ की स्थापना करना, सादि अथवा परंपरागत अनादि जो औपशमिकादि भाव है उनकी अपेक्षासे वचन कहना प्रतीत्यसत्य है। जैसे औदयिक भावों से उत्पन्न हुए किसी लंबे पुरुषको "यह पुरुष लंबा है" यह ताड़का वृक्ष बहुत लंबा है आदि कहना लोकमें रूढ शब्दोंको कहना संवृतिसत्य है। जैसे कमल, पृथिवी आदि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होता है तथापि उसे केवल कीचड़से उत्पन्न होनेके कारण पंकज कहना संवृतिसत्य है। सुगन्धित धूप, चूर्ण वासना और उबटन, लेप आदि द्रव्योंसे पड़नेवाली चीजोंका अलग-अलग विभाग कहना तथा पद्मव्यूह, मकरव्यूह, हंसव्यूह, सर्वतोभद्रव्यूह और क्रौंचकव्यूह आदिकी रचनाका अनुक्रम कहना संयोजनासत्य कहलाता है। आर्य अनार्य आदिके भेदसे जो बत्तीस देश है उनमें धर्म अर्थ काम मोक्षको बतलानेवाले अलग-अलग शब्द वा वचनोंको कहना जनपदसत्य है जैसे किसी देशमे राजा कहते है किसी देशमे राणा कहते हैं। गांव, नगर, राज, गण, पाखण्ड, जाति तथा कुल आदिके धर्मोंका उपदेश करनेवाले उनका स्वरूप बतलानेवाले वचनोंको देशसत्य कहते हैं जैसे जो बाडसे घिरा हो

उसे गांव कहते है। अल्प ज्ञानियोंके द्रव्योके यथार्थ स्वरूपका दर्शन नहीं होता है तथापि संयमी मुनि अथवा संयतासंयत श्रावक अपने गुणोका पालन करनेके लिए 'यह प्रासुक है' यह अप्रासुक है, इत्यादि जो वचन कहते है उन्हे भावसत्य कहते है। शास्त्रोसे ही जानने योग्य ऐसे प्रतिनियत छह द्रव्य और उनकी पर्यायोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट करना समयसत्य है। जैसे उत्तरोत्तर समयोकी वृद्धि होनेसे बालक युवा होता है। इतनेको पल्योपम कहते हैं। इसतरह दश प्रकारका सत्य है। सत्य वचनोमे सब तरहके गुण और सम्पदाएं भरी रहती है और झूठ बोलने वालेका अपने सगे भाई भी तिरस्कार करते है, मित्र भी उससे विरक्त हो जाते है। विष अग्नि और जल आदि जड़ पदार्थ भी मिथ्या भाषण करनेवालेको सहन नहीं कर सकते तथा जीभका काटा जाना और समस्त धनका हरण हो जाना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते है।

संयम दो प्रकारका है—एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। जो मुनि देश और कालके विधानोके जानकार है अन्य किसीकी रोक-टोक न होनेसे जिनका शरीर अति उत्तम है, जो मन-वचन-कायके तीनों योगो का निग्रह अच्छी तरह करते है और तीनो गुप्तियोका पालन अच्छी तरह करते है, ऐसे मुनियोके राग द्वेषका अभाव होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयमी मुनिको समितियोंका पालन करना चाहिए। आगे उन्ही समितियो को कहते है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच समिति है संक्षेपसे जीवोके चौदह भेद है स्थूल एकेंद्रिय पर्याप्तक, स्थूल एकेंद्रिय अपर्याप्तक, सूक्ष्म एकेंद्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेंद्रिय अपर्याप्तक ये चार तो एकेंद्रियके भेद, द्वींद्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक ये दो दोइंद्रियके भेद, त्रीद्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक ये दो त्रींद्रियके भेद, चौइंद्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक ये दो चौइंद्रियके भेद, पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्तक अपर्याप्तक पंचेन्द्रिय असैनी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय असैनी अपर्याप्तक ये चार पंचेंद्रियके

भेद ये इसप्रकार चौदह भेद हैं और ये सब अपने अपने नामकर्मके विशेष उदयसे प्राप्त होते है जो मुनि इन चौदह जीव स्थानोंके भेदोको अच्छी तरह जानते है, जो केवल धर्मके लिए ही गमन करते है सो भी सूर्यके उदय होजाने पर तथा जिनके नेत्रोमे अपने विषय ग्रहण करनेकी सामर्थ्य है वे ही गमन करते है। मनुष्य, हाथी, घोड़े, गाड़ियो, गाय, भैस आदिके खुरोसे जिसकी ठंडक निकल गई है ऐसे ठंडे मार्गमे उसीमे अपना चित्त लगाकर धीरे धीरे अपने चरण रखते हुए शरीरको संकुचित कर अगल-बगलसे दृष्टि हटाकर केवल आगेकी चार हाथ जमीन पर अपनी दृष्टि डालते हुए चलते है यदि किसी दूसरी ओर या सामने भी अधिक दूर तक देखनेकी आवश्यकता होती है तो खड़े होकर देखते हैं। उनके इसप्रकार चलनेमे पृथ्वी आदिका कोई आरम्भ नहीं होता इसलिए उसे ईर्यासमिति कहते हैं। हित मित और संदेहरहित वचनोंको भाषा समिति कहते हैं। मोक्ष पदकी प्राप्तिरूप जो प्रधान वा मुख्य फल मिलता है उसको हित कहते है। वह दो प्रकारका है—एक अपना हित करना और दूसरा अन्य लोगोंका हित करना। अनर्थक वचन न कहना तथा बहुतसा बकवाद न करना मित है। जिसका अर्थ स्पष्ट हो, अक्षर साफ हो और कोई तरहका संदेह न हो वह संदेह रहित कहलाता है। मिथ्यावचन कहना किसीको ईर्ष्या उत्पन्न करनेवाले वा अप्रिय (बुरे) लगनेवाले वचन कहना किसीके चित्तमे अन्तर डालनेवाले, जिनका सार बहुत संक्षेपसे कहा गया है, जिनके सुननेसे शंका उत्पन्न होजाय, भ्रम उत्पन्न हो जाय ऐसे वचन कहना, कषाय और हंसी मिले हुए वचन कहना। असभ्य सौगन्ध और कठोरतासे वचन कहना, धर्मविरोधी, देशविरोधी और कालविरोधी वचन कहना तथा किसी की अधिक स्तुति करना आदि दोषोंसे रहित वचन कहना भाषा समितिका विस्तार है। मोक्ष प्राप्त करना ही जिनका एक मुख्य प्रयोजन है जो प्राणियोंकी दया करनेमे ही सदा तत्पर रहते हैं शरीरकी स्थितिके लिए वा

प्राणोंकी यात्राके लिए अथवा तपश्चरणकी वृद्धिके लिए जो चर्याके लिए (आहारके लिए) बिहार करते हैं शील गुण और संयमादिकी रक्षा करते हैं संसार शरीर और भोग इन तीनोसे उत्पन्न हुए वैराग्यका सदा चिंतवन करते रहते हैं और जो देखे हुए पदार्थोके यथार्थ स्वरूपका विचार करते हैं ऐसे परिग्रह रहित मुनि देश काल आदिकी सामग्री सहित तथा नौकोटि-विशुद्धियोंसहित जो निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं उसको एषणा समिति कहते हैं। षट्कायके (छह प्रकारके) जीव समूहोके लिए उपद्रव होना उपद्रवण है, जीवोके अंग छेद आदि व्यापारको विद्रावण कहते है, जीवों को संताप (मानसिक वा अंतरंग पीड़ा) उत्पन्न होनेको परितापन कहते है। प्राणियोंके प्राण नाश होनेको आरम्भ कहते है। इसप्रकार उपद्रवण, विद्रावण, परितापन, आरंभ क्रियाओके द्वारा जो आहार तैयार किया गया हो, जो अपने हाथसे किया है, दूसरेसे कराया हो अथवा करते हुएकी अनुमोदना की हो, अथवा जो नीच कर्मोसे (नीच कर्मोके द्वारा की हुई कमाईसे) बनाया गया हो ऐसे आहारको ग्रहण करनेवाले मुनियोंके उप-वास आदि तपश्चरण, अभ्रावकाश आदि योग और वीरासन आदि विशेष योग सब फूटे बर्तनमे भरे हुए अमृतके समान निकल जाते है नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मुनिराज ऐसे आहारको अभक्ष्यके समान त्याग कर देते हैं और दूसरेके द्वारा किया हुआ, प्रशस्त (निर्दोष) और प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं इसप्रकार प्रासुक और निर्दोष आहार ग्रहण करते हुए भी उनके छ्यालीस दोष होते है--सोलह प्रकारके उद्गमदोष, सोलहप्रकारके उत्पादन दोष, दश प्रकारके एषणा दोष और संयोजना, अप्रमाण, अंगार तथा धूम चार ये दोष इसप्रकार छ्यालीस दोष होते है। इन सब दोषोको टालकर आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। यही बात किसी दूसरे ग्रंथमे लिखी है---यथा---अद्धा कम्मुद्देसिय इत्यादि।

इन गाथाओमे सोलह उद्गम दोष बतलाये है जिन्हे टालकर मुनि

आहार लेते हैं। इनके सिवाय एक अधःकर्म दोष बतलाया है जो छयालीस दोषोंसे बाहर है और सबसे बड़ा है आगे उन्हींको अनुक्रमसे बतलाते हैं। जिस आहारके तैयार करनेमें गृहस्थके आश्रय रहनेवाले पांचों पाप (चक्की, ऊखली, चूल, बुहारी और पानीमें त्रसजीवोंकी हिंसा) स्वयं करने पड़े हों, अथवा निकृष्ट व्यापार किया गया हो वा छहों प्रकारके जीवोंके समूहकी हिंसा की गई हो ऐसे आहारको ग्रहण करना अधःकर्म दोष है यह दोष छयालीस दोषोंसे अलग है। खास मुनिके लिए तैयार किया हुआ भोजन देना उद्दिष्ट दोष है। मुनिको देखकर अधिक भोजन बनाना अध्यधि दोष है। प्रासुक आहारमे अप्रासुक वस्तु मिला देना अथवा अप्रासुक मिला हुआ आहार देना पूतिदोष है। असंयमियोंके साथ ही मुनियोंको आहार देना मिश्र दोष है। पकनेके बर्तनसे निकालकर किसी दूसरी जगह रख देना और फिर वहांसे मुनियोंको देना स्थापित दोष है। यक्ष आदिके लिए चढाये हुए नैवेद्यमेंसे जो बाकी बच रहा है उसे मुनियोंको देना बलि नामका दोष है। नियत किए हुए समयको बदलकर दूसरे समयमे भोजन देना प्राभृत दोष है। भोजनके पात्रोंको एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानमें ले जाकर भोजन देना प्रादुष्कार दोष है। खरीदकर लाया हुआ भोजन देना क्रीत दोष है। उधार मांगकर लाया हुआ भोजन देना प्रामृष्य (वा ऋण) दोष है। किसी एक भोजनके बदले दूसरा भोजन लाकर देना परावर्तिक दोष है। किसी दूसरे देशसे लाया हुआ भोजन देना अभिहृत दोष है। उघाड़कर अथवा उघाड़ा हुआ भोजन देना उद्भिन्न दोष है। साधुओंको सीढी चढ़ाकर भोजन देना मालारोहण दोष है। किसीसे डरकर आहार देना अच्छेद्य दोष है। साधुओंको सीढी द्वारा नीची जमीन पर उतारकर भोजन देना अनिसृष्ट दोष है। इसप्रकार ये सोलह उद्गम दोष कहलाते है।

कोई साधु किसीके यहां जाकर बच्चोंके संभालने आदिका उपदेश देकर आहार ग्रहण करे तो उसका वह धात्री दोष गिना जाता है। यदि कोई साधु किसी दूसरे गांवसे किसीके सम्बन्धीके समाचार सुनावे या पत्रादि लाकर दे और फिर भोजन करे तो दूत नामका दोष है। निमित्तों के द्वारा कुछ अगिला पिछला हाल बतलाकर आहार करे तो निमित्त दोष है। अपनी जीविकाको उत्तमता बतलाकर आहार करना आजीवक दोष है। दाताके अनुकूल वचन कहकर आहार लेना वनीपक दोष है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार चिकित्साका उपदेश देकर आहार लेना चिकित्सा दोष है। क्रोध दिखलाकर आहार उत्पन्न कराना क्रोध दोष है। अभिमान दिखलाकर आहार उत्पन्न कराना मान दोष है। माया वा छलकपट कर आहार उत्पन्न कराना माया दोष है और लोभ दिखलाकर आहार उत्पन्न कराना लोभ दोष है। आहार ग्रहण करनेके पहिले उसकी स्तुति करना पूर्व स्तुति दोष है। आहार ग्रहण करनेके पीछे स्तुति करना पश्चात् स्तुति दोष है। आकाशगमन आदिकी विद्या देकर आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है। सर्प आदिके विषके दूर करनेका मंत्र देकर आहार उत्पन्न कराना मंत्रोत्पादन दोष है। शरीरके संस्कारके कारण ऐसे सुगन्धित द्रव्योंके चूर्णका उपदेश देकर आहार उत्पन्न कराना चूर्णयोग वा चूर्णोत्पादन दोष है। वशीकरणका उपदेश देकर आहार उत्पन्न कराना मूलकर्म दोष है। ये सोलह उत्पादन दोष कहलाते है।

जिस भोजनमे किसी तरहका संदेह उत्पन्न हो जाय उसको ग्रहण करना शंकित दोष है। यदि दाताके हाथ पैर वा बर्तनोंमे तेल घी आदिका चिकनापन लगा हो तो मृक्षित दोष है। अप्रासुकके ऊपर रखे हुए आहार को ग्रहण करना निक्षिप्त दोष है। सचित्तसे ढके हुए आहारको ग्रहण करना पिहित दोष है। यदि दाता बर्तन वस्त्र आदिको शीघ्रताके साथ खींच ले और तो भी साधु आहार ग्रहण करे तो साहरण दोष है। यदि दातामे कोई दोष हो और फिर भी साधु आहार ग्रहण करले तो दायक

दोष है। अप्रासुक मिला हुआ आहार ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है। जिस जल आदिकमे कोई परिणमन न हुआ हो, अविध्वस्त हो उसे ग्रहण करना अपरिणत दोष है। यदि हाथ वा बर्तनमे खड़ी आदि अप्रासुक पदार्थ लगा हो और उसीसे दिया हुआ आहार ग्रहण करे तो लिप्त दोष है छोड़ा वा गेरा हुआ आहार ग्रहण करना परित्यक्त दोष है। ये दश आहारके दोष कहलाते हैं।

अपने स्वादके लिए ठंडा और गर्म अन्न पानी आदि मिलाना संयोजना दोष है। मात्रासे अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है। अत्यंत लपटताके साथ आहार ग्रहण करना अंगार दोष है। भोजनकी निंदा करते हुए आहार ग्रहण करना धूम्र दोष है। ये चार भी ऐषणा वा आहारके दोष हैं। इन ऊपर कहे हुए छयालीस दोषोंसे रहित एषणा समिति होती है।

जिस मुनिने सब तरहके परिग्रहोंका त्यागकर दिया है और निःसंग अवस्था धारण की है। वह यदि भोजनके लिए पात्र (बर्तन) रखे तो उसकी रक्षा करना आदि अनेक दोष आते है। यदि वह मुनि कपाल वा अन्य कोई बर्तन लेकर भिक्षाके लिए फिरेगा तो उसमे दीनताका दोष आवेगा। कदाचित् यह कहा जाय कि भोजनके समय गृहस्थ लोग कोई भी बर्तन लाकर देदें उसमें उसे भोजन कर लेना चाहिए सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इसप्रकार सब जगह बर्तन नहीं मिल सकते, दूसरे उसको मांजने धोने आदिमें पाप लगेगा ही और उस पापको वह किसी भी तरह बचा नहीं सकेगा। यदि वह अपना बर्तन लेकर किसी दूसरे देशमें जायगा तो उसको भोजनमें आशा लगी ही रहेगी तथा अपने पहिलेके विशेष बर्तनमें अधिक गुणकी संभावना होनेसे मोह उत्पन्न होता ही रहेगा।

यदि किसीके यहां आहारका योग न मिला तो उसे दीनता धारण करनी पड़ेगी इसलिए जो मुनि संग और परिग्रह रहित है उसको पाणिपुट (करपात्र-दोनों हाथोंकी हथेली) रूप बर्तनके सिवाय और किसी बर्तनमें

भोजन नहीं करना चाहिए। अतएव जो मुनि अपने स्वाधीन ऐसे करपात्र मे ही भोजन करते है तथा जिसमे कोई किसी तरहकी बाधा न आवे ऐसे स्थान वा देशमे ही भोजन करते हैं। बिना किसीके सहारे दोनो पैरोमे चार अंगुलका अन्तर रखते हुए खड़े होकर तथा परीक्षाकर आहार लेते है, उन्हींके आहार सम्बन्धी दोषोका अभाव हो सकता है। इसप्रकार निर्दोष आहार लेना ऐषणा समिति है। जो पदार्थ धर्मके विरोधी नहीं है जिनके उठाने रखनेमे किसीको रोक टोक नहीं है और जो ज्ञान चरित्र आदिके साधन है ऐसे शास्त्र कमंडलु आदि पदार्थोको देखकर तथा शोधकर उठाना रखना और अपनी सब प्रवृत्ति ऐसी ही करना जिसमे किसी जीवको बाधा न हो सके उसको आदान निक्षेपण समिति कहते है। जिसमे स्थावर और जंगम (त्रस) जीवोंको किसी तरहका विरोध न आवे, किसीको बाधा न आवे इसप्रकार अपने शरीरके मलमूत्र दूर करना अथवा अपने शरीरको स्थापन करना (बैठना-उठना) उत्सर्ग समिति है। इसप्रकार गमन (ईर्या समिति) भाषण (भाषा समिति) अभ्यवहरण (एषणा समिति) ग्रहण-निक्षेप (आदान निक्षेपण) और उत्सर्ग ये पांच समितियां है इन पांचों समितियोंके पालनेमे अप्रमत्त मुनियोंके मन-वचन-काय इन तीनो योगोके द्वारा कर्म नहीं आते इसलिए उन मुनियोंको सहज ही संवर हो जाता है।

इसप्रकार ईर्या आदि समितियोंको पालन करनेवाले मुनियोको उन समितियोंकी रक्षा करनेके लिए प्राणि परिहार और इंद्रिय परिहार नामका अपहृत संयम धारण करना चाहिए। एकेंद्रिय आदि जीवोंकी पीड़ा दूर करना, उनको पीड़ा देनेका त्याग करना, प्राणि संयम है तथा इंद्रियोंके विषयभूत पदार्थोमे राग नहीं करना इंद्रिय संयम है। इसप्रकारका यह अपहृत संयम उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन तरहकाहै, जो मुनि वसतिका और आहार इन दोनों बाह्य साधनोंको प्रासुक ग्रहण करते है तथा स्वाधीन वा पराधीन दोनों प्रकारके ज्ञान चारित्रका पालन करते है

ऐसे मुनि बाहरके छोटे-बड़े कीड़े-मकोड़े आदि जीवोंके मिलनेपर उस देश वा स्थानसे अपने आत्माको हटाकर (अपने आप हटकर) उन जीवोंकी रक्षा करते हैं उसको उत्कृष्ट संयम कहते है। तथा जो मुनि ऐसे जीवोंके मिलनेपर पीछी आदि कोमल उपकरणसे देख शोधकर उन जीवोंको हटा-देते हैं वह मध्यम संयम है और जो कोमल उपकरणके सिवाय किसी भी अन्य उपकरणसे उन जीवोंको हटानेकी इच्छा करते हैं उसे जघन्य संयम कहते हैं।

उस अपहृत संयमको पालन करनेके लिए—उसकी रक्षा करनेके लिए आठ शुद्धियोंका उपदेश दिया गया है। आगे उन्हीं शुद्धियोंको बतलाते है——भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनाशुद्धि, शयनासनशुद्धि और और वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धियां हैं।

कर्मोके क्षयोपशम होनेके कारण जो मोक्षमार्गमें रुचि वा श्रद्धा होती है और उस श्रद्धाके कारण जो आत्मामें स्वच्छता निर्मलता होती है जो कि राग द्वेष आदि सब उपद्रवोंसे रहित होती है उसको भावशुद्धि कहते हैं। जिस प्रकार दीवाल शुद्ध होनेसे ही उसपर बनाया हुआ चित्र प्रकाशित होता है उसीप्रकार उस भाव शुद्धिके होनेसे ही आचार वा चारित्र प्रकाशित होता है। जिसके शरीरपर कोई आवरण वा वस्त्रादिक नहीं है जिसके संस्कार सब त्याग दिए गए है, जिसके अंगोंके विकार छोड़ दिए गए हैं, जिसकी प्रवृत्ति सब जगह बड़े प्रयत्नसे की जाती है जो शांत-मूर्तिके समान दिखाई पड़ता है और जो उत्पन्न हुए के समान है ऐसे शरीर को धारण करना कायशुद्धि है। ऐसी कायशुद्धिके होनेपर न तो अपनेसे किसी दूसरेको भय होता है। और न किसी दूसरेसे अपनेको भय होता है अरहन्त आदि पांचों परमेष्ठियोंका यथा योग्य पूजा और विनय करना, ज्ञानादिककी विनय करना अर्थात् विधि और भक्ति पूर्वक सब कार्योमें सब जगह गुरुके अनुकूल प्रवृत्ति रखना, प्रश्न स्वाध्याय वाचना और कथा

कहना आदि कार्योंके करनेमें कुशलता रखना देशका ज्ञान, समयका ज्ञान और भावके ज्ञानमे निपुणता रखना तथा सदा आचार्य की आज्ञानुसार चलना विनयशुद्धि है। यह विनयशुद्धि ही सब तरहकी सम्पदाओंकी मूल कारण है, यही पुरुषके लिए आभूषण है और यही संसाररूपी महासागर से पार करदेनेके लिए नाव है।

अनेक प्रकारके जीवोंके स्थान जीवोंकी योनियां और जीवोंके आधारभूत आश्रयोंका ज्ञान होनेसे जिसमे जीवोंकी पीड़ा दूर करनेका प्रयत्न किया जा रहा है और ज्ञान सूर्य तथा अपनी इंद्रियोके प्रकाशसे सब जगह देखकर गमन किया जाता है तथा जल्दी, धीरे, संभ्रम करना, आश्चर्य करना, लीला विकार और दिशाओंका अवलोकन आदि दोषोंसे रहित जो गमन किया जाता है उसको ईर्यापथशुद्धि कहते हैं। जिसप्रकार सुनीतिपूर्वक चलनेमें विभव रहता है उसीप्रकार ईर्यापथशुद्धिके रहते हुए ही संयम ठहरता है। आगे भिक्षा शुद्धि कहते हैं—जिसमें बाह्य अन्तरंग दोनों प्रवृत्तियोंकी परीक्षा की गई है, जिसमे दाताके शरीरकी शुद्धि तथा देशकी शुद्धि आदि सब विधियें की गई है, आचारसूत्रोंमें कहे हुए काल देश और प्रकृतिके अनुसार जिसमे नवधा भक्तिकी कुशलता रखी गई है, भिक्षाके मिलने न मिलनेमें तथा मान और अपमान होनेमे जिसमे अपने मनकी प्रवृत्ति समान रखी गई है, जिस भिक्षामे गीत नृत्य होनेवाले घर, जिसमे प्रसूति हुई हो अथवा कोई मर गया हो, जिसमें शराब बेची जाती हो, जो वेश्याका घर हो, अथवा जिसमें और कोई पापकर्म होता हो, जो दीनका घर हो, अनाथ का घर हो, जो दानशाला हो, यज्ञादि करनेका घर हो अथवा जिसमे विवाह आदि मंगलकार्य हों ऐसे घर छोड़ दिये जाते हों, चन्द्रमाकी गतिके समान जिसमे छोटे-बड़े सब घरोमें प्रवेश करना पड़ता हो, जो कुल वा घर लोकमें निंदित गिने जाते हैं वे जिसमें छोड़ दिए जाते हों, जिसमें अपनी दीनवृत्ति धारण न करनी पड़ती हो, और उदासीनता पूर्वक प्रासुक आहार ही ढूंढा जाता हो और शास्त्रोंमें कहे हुए निर्दोष भोजनके द्वारा

प्राणोंकी यात्रा करना ही जिसका फल समझा जाता हो वह लाभ अलाभ (भोजनका मिलना न मिलना इन दोनोंमे) तथा सरस और विरस (रस-सहित वा नीरस) मे समान संतोष रखनेवाले मुनियोंकी भिक्षा कहलाती है। ऐसी भिक्षासे ही चारित्र रूपी सम्पदा और गुण ठहर सकते हैं और ऐसी भिक्षा ही सम्पदाके समान साधु लोगोंकी सेवा करनेका कारण होती है। ऐसी भिक्षाकी शुद्धि रखना भिक्षाशुद्धि कहलाती है।

भिक्षा शुद्धिमें सदा तत्पर रहनेवाले मुनियोंका आहार पांच प्रकार का है और गोचर अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रमराहार, श्वभ्र पूरण ये उसके नाम है जिसप्रकार गायको यदि कोई युवती लीलापूर्वक आभूषण पहिन कर घास डालनेको आवे तो भी गाय उस युवतीकी सुन्दरता नहीं देखती किंतु घास खाने पर ही अपना लक्ष्य रखती है तथा जिसप्रकार वह गाय अनेक देशकी घास लता आदिको खाती है और जैसी मिलती है जितनी मिलती है उसे ही खाती है वह किस तरह डाली गई है किसने डाली है आदि बातों पर कुछ ध्यान नहीं रखती है उसीप्रकार वह मुनि भी भिक्षा देनेवाले पुरुषोंकी कोमलता, सुन्दरता, सुन्दरता के अनुसार वेष और अभिलाषा आदिके देखनेमें कभी इच्छा नहीं रखते और न सूखा पतला आदि आहारकी विशेष योजनाको देखते हैं और जो सामने आजाता है उसे ही खालेते है इसलिए गायके समान चरनेको भोजन करनेको गोचार कहते है। मुनि लोग गोचारके समान ही आहार ढूंढा करते हैं। जिसप्रकार कोई वैश्य रत्नोंसे भरी हुई गाड़ीको घी तेल आदि किसी तरहकी चिकना-हट लगाकर धुरी पहियोंको ठीककर अपने लेजाने योग्य स्थानपर पहुंचाता है उसीप्रकार मुनिराज भी गुणरूपी रत्नोंसे भरी हुई इस शरीररूपी गाड़ी को निर्दोष भिक्षारूपी चिकनाहट लगाकर आयुरूपी धुरी पहियोको ठीक कर अपने पहुंचने योग्य समाधिरूपी नगरमें पहुंचाते है उसको अक्षम्रक्षण कहते हैं यह रूढीसे रखा हुआ नाम है। जिसप्रकार किसी भांडागारसे

(कोठारमे) आग लग जाय तो गृहस्थ उसे पवित्र जलसे अथवा अपवित्र जलसे बुझाता है उसीप्रकार मुनिराज भी सरस अथवा नीरस जैसा कुछ आहार मिल जाता है उसीसे अपने पेटकी अग्निको शांत कर लेते है इसको उदराग्निप्रशमन कहते है। जिसप्रकार भ्रमर किसी भी फूलको बाधा न देता हुआ रस ग्रहण करता है उसीप्रकार मुनिराज भी किसी भी दाताको बाधा न पहुंचाते हुए आहार ग्रहण करते है इसलिए उनके आहारको भ्रमराहार कहते है। जिसप्रकार किसी गड्ढेको अच्छी बुरी मिट्टीसे भरकर पूरा कर देते हैं उसीप्रकार मुनिराज भी स्वादिष्ट अथवा बेस्वाद किसी तरहके भी आहारसे अपने पेटरूपी गड्ढेको भर लेते है उसको श्वभ्रपूरण कहते है इसप्रकार भिक्षा शुद्धि निरूपण की। इसीप्रकार प्रतिष्ठापन शुद्धि में तत्पर रहनेवाले मुनियोंको अपने नाखून, केश, नाकका मल, थूक, वीर्य, मल-मूत्र आदिके शुद्ध करनेमें अथवा शरीरका परित्याग करनेमे देश और काल दोनोंको अच्छी तरह समझकर जीवोको किसी तरहकी रुकावट किए बिना ही प्रयत्न करते हुए अपना बर्ताव करना चाहिए। यथा शयनासन शुद्धिमे तत्पर रहनेवाले मुनियोको स्त्रियोंका निवास स्थान, क्षुद्रजीव, चोर, जुआरी, मद्य पीनेवाले और पक्षी पकड़कर अपनी जीविका करनेवाले आदि पापी लोगोंका निवास स्थान छोड़ देना चाहिए जहांपर विकृत अंगोंके तथा गुह्य चीजोंके काठ वा रंगके चित्र बने हों, जो हंसी करनेकी भोगोपभोग सेवन करनेकी कोई बड़ा उत्सव करनेकी, सवारीके घोड़ा आदि जानवरोंके दमन करनेकी, शस्त्र रखनेकी और व्यायाम करनेकी जगह हो, जहांपर इन्द्रियोंसे दिखाई न देनेवाले भी राग उत्पन्न करनेवाले साधन हों, तथा जो मद, अभिमान, शोक, कोप और संक्लेशके स्थान हों वे सब छोड़ देने चाहिए। जो अपने निमित्तसे बनाए नहीं गए है और जिनके बनने बनानेमे अपनी ओरसे किसी तरहका आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे स्वाभाविक रीतिसे (अकृत्रिम) बने हुए पर्वतकी गुफाएं वा वृक्षोंके कोटर आदि तथा बनवाए

हुए सूने मकान (वसतिका) आदि अथवा जिनमें निवास करना छोड़ दिया गया है अथवा छुडा दिया गया है ऐसे मोचितावास आदि स्थानोंमें रहना चाहिए।

मुनियोंका निवास तीन प्रकारका होता है, स्थान–खड़े होना आसन–बैठना और शयन–सोना मुनियोको दोनो पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर ऊपरकी ओर मुंह करके, नीचेकी ओर मुंह करके किसी एक ओर मुंह करके अथवा इच्छानुसार जहां अपने आत्माके परिणाम लगते हों उधर चाहे जिधरको मुंह करके बिना किसी तरहके संक्लेश परिणामोंके इसप्रकार खड़े होना चाहिए जिसमें अपने आत्माके बल और वीर्यके समान कर्मोका क्षय बराबर होता रहे। यदि इसप्रकार खड़े होनेकी शक्ति न रहे अथवा ऐसी शक्ति न हो तो बिना किसी प्रतिज्ञाके पर्यक आदिमेंसे कोईसा भी आसन लगाकर बैठ जाना चाहिए। यदि समय परिमित न हो तो किसी एक करवटसे अपनी बाहोका तकिया लगाकर शरीरको संकुचित कर समेटकर केवल परिश्रम दूर करनेके लिए थोड़ी देर तक सो लेना चाहिए। यह सब शयनासनशुद्धि कहलाता है। मुनि लोगोंके मुंहसे जो वचन निकलते हैं उनमे पृथ्वीकाय आदि जीवोंकी हिंसारूप आरम्भको प्रेरणा नहीं होती उनमे युद्धकी प्रेरणा, कामकी प्रेरणा नहीं होती व कठोर नहीं होते दूसरों के गुप्त विषयोंको प्रकट करनेवाले अथवा निन्दा करनेवाले नहीं होते व कठिन निष्ठुर आदि दूसरेको पीड़ा पहुंचाने वाले नहीं होते। स्त्रीकथा भोजनकथा, देशकथा और राजकथा इन चारों विकथाओसे रहित होते हैं, व्रत शीलोंका पालन करना वा उपदेश देना ही उन वचनोंका मुख्य फल होता है। इनके सिवाय उनके वचन अपने आत्माका (उन मुनियोंका) हित करनेवाले होते हैं, अन्य समस्तजीवोंको हित करनेवाले होते हैं परिमित होते हैं मधुर होते है मनोहर होते है और परम वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले होते हैं उनमे न तो दूसरोकी निंदा होती है और न अपनी प्रशंसा रहती है। इस

प्रकारके मुनियोंके योग्यही उनके वचन निकलते है ऐसे ही वचनोंका निकालना वाक्यशुद्धि कही जाती है। ऐसी वाक्यशुद्धिके होनेसे समस्त संपदाएं अपने आप प्राप्त हो जाती हैं।

इसप्रकार यह शुद्धियोका प्रकरण समाप्त हुआ ।।

अब आगे संयमके ऐसे भेदोंको कहते है जो मोक्षके साक्षात् कारण हैं सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात चारित्र। ये संयमके साक्षात् मोक्ष प्राप्त करानेवाले भेद है।

समयके अनुसार करने योग्य अवस्थानको सामायिक कहते है अर्थात् अभेद रूपसे (पूर्णरूपसे) समस्त पापरूप योगोका त्यागकर उसीके अनुसार (जिसमे किसी तरहका पापरूप योग न होने पावे) किसी नियतसमय तक अथवा अनियत समय तक अपनी प्रवृत्ति रखना सामायिक कहलाता है। त्रस और स्थावर जीवोंके देश तथा कालके निरोध होनेका प्रत्यक्ष न होने के कारण अथवा उसके प्रगट होनेके प्रत्यक्ष न होनेके कारण अथवा कोई प्रमाद हो जानेके कारण यदि करने योग्य क्रिया निर्दोष न की गई हो उसको निर्दोष रीतिसे करनेका प्रयत्न न किया गया हो तो उस की हुई क्रियाको अच्छी तरह प्रतिक्रिया करना—उसको शुद्ध करनेका उपाय करना या उस दोषके बदले दंड लेना छेदोपस्थापना है। अथवा हिसा आदिके भेद से सावद्य कर्म (पापसहित योगों द्वारा की हुई क्रियाएं) अनेक प्रकारके होते है उनको विकल्प रूपसे त्याग करना (पूर्णरूपसे त्याग न कर) उसके थोड़े या बहुत अंशोका त्याग करना, छेदोपस्थापना है। जिसमें प्राणियों की हिंसासे अलग रहना पड़े किसी भी तरह प्राणियोंकी हिंसा न हो सके उसको परिहार कहते हैं। जिस चारित्रमे उस परिहारके द्वारा विशुद्धि रखी जाय उसको परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। जिसकी अवस्था कमसे कम तीस वर्षकी हो जो कमसे कम तीन वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक

किसी तीर्थकरके चरण कमलोंकी सेवा करता रहा हो चौदह पूर्वोंमेंसे प्रत्याख्यान नामके पूर्वरूप महासागरका पारंगत हो अर्थात् जो ग्यारह अंग और पूर्वोंका पाठी हो जीवोके निरोध होने और प्रकट होने आदिके समय परिणाम जन्य योनि देश द्रव्य और स्वभाव आदिके विधानोंका अच्छा जानकार हो जो प्रमादो से सर्वथा रहित हो महा वीर्यशाली महाशक्तिमान हो जो कर्मोंकी परम निर्जरा करने वाला अत्यंत कठिन कठिन तपश्चरणोको करनेवाला और सामायिकके तीनो समयोंको छोड़कर शेष समयमें प्रतिदिन दो कोस गमन करनेवाला हो उसीके यह परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। ऐसे मुनिके सिवाय अन्य किसी के यह परिहार विशुद्धि चारित्र नहीं हो सकता। सूक्ष्म और स्थूल जीवोंकी हिंसा के त्याग-करने में सदा प्रवृत्ति वा दत्तचित्त होने से जिसका उत्साह बराबर बढ़ता जा रहा है, जो अपनी विशेष क्रियाओंको अखंडित रीतिसे पूर्णरीतिसे पालन कर रहा है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी महा वायुके द्वारा फूकी हुई, बढाई हुई वा तेज की हुई प्रशंसनीय ध्यानरूपी (शुक्लध्यानरूपी) अग्निकी शिखामें जिसका बहुतसा कर्मरूपी ईंधन आपड़ा हो, जिसने अपने विशेष ध्यानसे कषायरूपीविषका अंकुर नष्ट करदिया हो जिसका बचा हुआ थोडासा मोहनीय कर्मका वीज भी अपचय होनेके सन्मुख हो, और इसीलिये सूक्ष्मसांपराय ऐसा सार्थक नाम होनेसे जिसका संयम अत्यंत शुद्ध है ऐसे मुनिके सूक्ष्मसांपराय नामका चारित्र होता है। समस्त चारित्र-मोहनीय कर्मके उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे आत्मस्वभावकी अवस्था प्रगट होनेरूप अथवा उपेक्षा लक्षणरूप जो चारित्र प्रकट होता है उसे अथाख्यात वा यथाख्यात चारित्र कहते हैं। अथ शब्दका अनंतर अर्थ है इसलिये जो समस्त मोहनीय कर्मके क्षय अथवा उपशम होनेके अनंतर जो प्रकट हो उसे अथाख्यात कहते है अथवा इसका दूसरा नाम यथाख्यात भी है। आत्माका जैसा स्वभाव है वैसा ही जिसका स्वरूप कहा गया हो उसे यथाख्यात कहते है इसी यथाख्यात चारित्रसे समस्त

ऐसे आत्माका अनुग्रह करनेवाले, और विशेष शक्ति प्रगट करनेकी जिनमे सामर्थ्य है ऐसे जो पुद्गल मनरूप परिणत होते है उन्हे द्रव्य मन कहते है। द्रव्यमन पुद्गलोसे ही बनता है इसलिये वह भी पौद्गलिक ही कहलाता है। स्वतंत्रता पूर्वक आत्माके द्वारा जो स्वयं किया जाता है उसे कृत कहते है दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षा रखकर जो कार्य सिद्ध किया गया हो अर्थात दूसरेसे कराया गया हो उसे कारित कहते है। काम करनेवालेको मनसे भला मानना अनुमत कहलाता है। आत्मा के सम्यग्दर्शन, संयमासंयम, संयम और यथाख्यात चारित्र गुणोका जो घात करे उन्हे कषाय कहते है अथवा कर्म-रूप बीजको जो फलशाली बनादेवे (जिनके कारण कर्म अपना फल दे सके) उनको कषाथ कहते है। कषाय क्रोध मान माया लोभ ये चार है। संरंभ समारंभ और आरंभ इन तीनोके नीचे मन वचन काय इन तीनोको, कृत कारित अनुमत इन तीनोको और क्रोध मान माया लोभ इन चारो कषायोको अनुक्रमसे रखना चाहिये। इसतरह रखनेसे तथा उनका अंक संचार करनेसे संरंभ छत्तीस तरहका होता है। इसीप्रकार समारंभ भी छत्तीस प्रकारका होता है और आरंभ भी छत्तीस प्रकारका होता है ये सब मिलकर एकसौ आठ भेद होते है।

इसीप्रकार मन वचन काय तीनों योग, कृत, कारित अनुमोदना और क्रोधादिक कषाय इन सबको एक-एकके साथ कहकर अंक संचार करना चाहिये।

क्रोधकृतकाय संरंभ, मानकृतकाय संरंभ, मायाकृतकाय संरंभ, लोभ-कृतकाय संरंभ, क्रोधकारितकाय संरंभ, मानकारितकाय संरंभ मायाकारितकाय संरंभ, लोभकारितकाय संरंभ, क्रोधानुमतकाय संरंभ, मानानुमतकाय संरंभ मायानुमतकाय संरंभ, लोभानुमतकाय संरंभ यह बारह प्रकारका संरंभ हुआ, इसी प्रकार बारह प्रकारका वचन संरंभ और बारह प्रकारका मन संरंभ समझना चाहिये। इस तरह छत्तीस प्रकारका संरंभ, छत्तीस प्रकारका

समारंभ और छत्तीस ही प्रकारका आरभ समझना चाहिये इस तरह सब एकसौ आठ भेद होते हैं।

अनंतानुबंधी कषायका अवस्थान वा संस्कार संख्यात असंख्यात वा अनंत भव संसार तक रहता है, अप्रत्याख्यानावरण कषायका अवस्थान छह महीने तक रहता है, प्रत्याख्यानावरण कषायका संस्कार पंद्रह दिन तक रहता है और संज्वलन कषायका संस्कार अंतर्मुहूर्त तक रहता है इस प्रकार कषायोंके सोलह भेद भी होते हैं और कषायोंके सोलह भेद होनेसे संरंभादिकके चारसौ बत्तीस भेद हो जाते हैं।

सूक्ष्म जीवो को तो किसी तरह पीडा हो ही नहीं सकती है केवल बादर जीवोको पीडा हो सकती है इसलिये उन बादर जीवोंकी गति आदि मार्गणाएं, गुणस्थान, कुल, योनि और आयुष्य आदि जानकर गमन करने खडे होने शयन करने और बैठने आदि कार्योमे न तो स्वयं उन जीवोंकी हिंसा करना, न किसी दूसरोंसे उनका घात कराना और न हिंसा करते हुए अन्य लोगो का अनुमोदन करना हिंसाविरति वा हिंसाका त्याग अथवा अहिंसा वृत कहलाता है। यह अहिंसा वृत स्वर्ग और मोक्षफल प्राप्त होनेका कारण है। इस अहिंसा वृतका पालन करनेकेलिये ही बाकीके सब वृत धारण किये जाते है। अहिंसा वृतका धारण करनेवाला अहिंसक पुरुष अपने पिताके समान विश्वास करने योग्य और पूज्य माना जाता है हिंसक पुरुष सदा ललकार और फटकार पाता रहता है और सदा दूसरोके साथ वैर विरोध बांधता रहता है। हिंसक पुरुष इस लोकमेभी वध बंधन आदिके अनेक क्लेश भोगता है और परलोकमे भी नीच गति पाकर निंदनीय होता है इसलिये हिंसाका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। परमार्थ रीतिसे ग्रहण करनेकी इच्छासे इस अहिंसा वृतको स्थिर करनेके लिये वाग्गुप्ति मनोगुप्ति ईर्यासमिति आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये पांच भावानाएं कही गई है।

जो पदार्थ है उसको छिपानेकेलिये और जो नहीं है उसको प्रगट करने के लिये जो वचन कहे जाते है उसीको अनृत वा मिथ्या वचन कहते है। आत्मा नहीं है परलोक नहीं है इत्यादि वचन पदार्थोके अस्तित्वको छिपानेवाले हैं। आत्मा श्यामाक जातिके चांवल के बराबर है, अथवा अंगूठे के पर्वके समान है अथवा समस्त संसारमे व्याप्त है और निष्क्रिय है इत्यादि वचन जो पदार्थ नहीं है उसीको प्रगट करनेवाले है। विद्यमान पदार्थोको विद्यमान कहनेवाले वचन भी यदि प्राणियोंको पीड़ा करने वाले हों तो वे सत्य होकर भी असत्य ही माने जाते है। जो वचन विपरीत हों तथा प्राणियोको पीड़ा देने वाले हों वे सब अनृत कहलाते है। कृत कारित अनुमोदनासे अनृत वा असत्यका त्याग कर देना सत्यव्रत है। यह सत्यव्रत भी अभ्युदय और मोक्षका कारण है। सत्यवादीका (सच बोलने वालेका) सब लोग सन्मान करते है और समस्त कार्योमे वह प्रमाण माना जाता है। झूठ बोलनेवाले पर किसीकी श्रद्धा नहीं होती इस लोकमे भी जीभ काटी जाना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पडते है तथा झूठ बोलकर जिन लोगोंको दुःख दिया है और इसीलिये जिनके साथ वैर बंध गया है ऐसे लोगोंके द्वारा वह अनेक तरहके संकटोमे डाला जाता है। परलोकमे भी उसे अशुभ गति मिलती है तथा वह निंदनीय होता है इसलिये असत्य वचनोंका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। क्रोध प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध त्याग करदेनेकी भावना रखना, लोभ प्रत्याख्यान अर्थात् लोभका त्याग कर देनेकी भावना रखना, भीरुत्व प्रत्याख्यान अर्थात् डरको त्यागदेनेकी भावना रखना, हास्य–प्रत्याख्यान अर्थात् हंसीको त्याग देनेकी भावना रखना और अनुवीची भाषण ये पांच सत्य व्रतको दृढ़ करनेकी भावनाएं है। विचार कर भाषण करना अथवा अनुकूलता पूर्वक भाषण करना अनुवीची भाषण कहलाता है।

अदत्तादान अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को लेना वा ग्रहण करना चोरी है। किसी गांवमे किसी बगीचेमें, किसी सूने मकान अथवा गलीमे पडे हुए

तिर्यंच मनुष्य देव और अचेतनके भेदसे स्त्रियां चार तरहकी होती हैं इन चारों प्रकारकी स्त्रियोंमें माता बहिन और पुत्री की भावना रखकर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा होनेवाले नौ प्रकार के भेदोसे उस अब्रह्मका त्याग कर देना ब्रह्मचर्य नामका चौथा वृत है। यह ब्रह्मचर्य वृत भी स्वर्ग मोक्षका साधन है। यदि कोई ब्रह्मचारी जमीन पर भी बैठा हो तो भी संसार उसे साक्षात् देवके समान ही मानता है। यदि ब्रह्मचारी असंयमी भी हो तो भी उसका आदर सत्कार और मान प्रतिष्ठा होती है। इस ब्रह्मचर्य वृतमे ही समस्त गुण शामिल हे। जिसने ब्रह्मचर्य वृत धारण किया है उसीके सब विद्या देवता आकर स्वयं सेवक होकर काम करते है। जिस प्रकार मदके विकारसे उन्मत्त चित्तवाला जंगली हाथी हथिनीके द्वारा ठगा जाकर परवश हो जाता है और वध बंधन आदिके अनेक क्लेशोंका अनुभव करता है उसी प्रकार अब्रह्मचारी भी मदके विकार से उन्मत्त चित्त होकर परवश हो जाता है और फिर वध बंधन आदिके अनेक क्लेश सहन करता है। मोहसे तिरस्कृत होकर कार्य अकार्यका कुछ विचार नहीं कर सकता और न वह किसी भी श्रेष्ठ कार्यका संपादन कर सकता है। परस्त्रियोका आलिगन अथवा उनके साथ समागम करनेकी लालसा रखनेवाले पुरुषके साथ हर किसीका वैर विरोध हो जाता है और फिर उन वैर विरोध करनेवालोके द्वारा लिंगच्छेदन, वध बंधन और समस्त धनका हरा जाना आदि अनक दुःख उसे भोगने पडते है। परलोकमे उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और वह तृणके समान लघु वा क्षुद्र गिना जाता है। इसलिये स्त्रीमात्रका त्याग कर देना ही आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

इस ब्रह्मचर्य वृतको निश्चल करनेके लिये स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग, (स्त्रियोकी रागरूप कथा सुननेका त्याग) तन्मनोहरागनिरीक्षणविरह अर्थात् स्त्रियोके मनोहर अंगोके देखनेका त्याग करना, पूर्वरतानुस्मरणव्यपोह अर्थात् पहिले उपभोग की हुई स्त्रियोके स्मरण करनेका त्याग करना, वृष्येष्टरसा-

नुभवनिरास अर्थात् पौष्टिक और इष्ट रसके अनुभव करनेका त्याग करना, और स्वशरीरसंस्कारवर्जन अर्थात् अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग करना ये पांच भावनाएं है ।

मूर्छाको परिग्रह कहते है बाह्य और अभ्यतर परिग्रहकी रक्षा करना उपार्जन करना आदि कार्योमे प्रवृत्त होनेको मूर्छा कहते हैं । क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद (दास दासी) चतुष्पद (चौपाये) सवारी, सोने बैठनेकी पलंग करसी आदि चीजे, कुप्य (वस्त्रादि) और भांड (वर्तन आदि) दश प्रकारका बाह्य परिग्रह है, और वह भी चेतन अचेतनके भेदसे दो प्रकार का है । मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, (स्त्रीलिंग नपुंसकलिंग पुलिंग) राग और द्वेष यह चौदह प्रकारका अभ्यंतर परिग्रह है । इन दोनो प्रकारके परिग्रहोका मनके द्वारा कृत कारित अनुमोदनासे, वचनके द्वारा कृत कारित अनुमोदनासे, और कायके द्वारा कृत कारित अनुमोदनासे इन नौ तरहसे त्याग कर देना परिग्रह त्याग व्रत है । यह परिग्रह त्याग व्रत ही स्वर्ग और मोक्षका साधन है तथा समस्त गुणोंको सुशोभित करनेवाला है । परिग्रह त्याग व्रतको धारण करनेवाले पुरुषका सभी लोग सन्मान करते है सभी लोग वंदना करते है, और सभी लोग पूजा करते है ऐसे पुरुषके नाम लेनेमात्र से ही उसकेलिये सब लोग अपने अपने हाथ जोड़ लेते हैं । जिस प्रकार किसी पक्षीके पास मांसका टुकडा हो तो उस मांसको चाहनेवाले अन्य पक्षी उसे त्रास देते है उसी प्रकार चोर आदि धनार्थी लोग भी अधिक परिग्रहवालेको त्रास देते है तथा मार डालते है । परिग्रहको इकट्ठा करनेके लिये अपने कुटुंबी, विद्या और चारित्र को छोड़कर कितने ही मूर्ख लोग नीचता धारण करलेते है । जिस प्रकार ईधनसे अग्निकी तृप्ति नही होती उसी प्रकार परिग्रहसे किसी को भी तृप्ति नही होती । लोभके वशीभूत होकर वह कार्य अकार्य आदि किसीका विचार नही कर सकता । परलोकमे उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और यह लोभी है इस प्रकार वह

निंदनीय गिना जाता है। इसलिये जो नीच वृत्तिसे उपार्जन किया जाय और जो अनित्य तथा दुःखका कारण है ऐसे परिग्रहको छोड़कर आत्माका हित करनेवाले लोगोको निष्परिग्रहवृत्ति धारण कर नित्य और अनंत सुख का साधन ऐसा मोक्षका मार्ग सदा उपार्जन करना चाहिये। इस आकिंचन्य व्रतको स्थिर करनेके लिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचो इंद्रियोके इष्ट विषय प्राप्त होने पर उसमे राग नहीं करना और अनिष्ट पदार्थोके प्राप्त होनेपर द्वेष नहीं करना ये पांच भावनाएं है।

इस प्रकार अहिंसा आदि व्रतोका लक्षण फल और गुणोंको समझकर तथा व्रतोके अभाव मे दोषोंकी प्राप्ति समझकर विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार वध बंधन और पीड़न मुझे अप्रिय है उसी प्रकार सब जीवोको अप्रिय है जिस प्रकार मिथ्या वचन कटुक और कठोर वचन सुननेसे मुझे अभूतपूर्व और अत्यंत तीव्र दुःख होता है उसी प्रकार सब जीवों को होता है। जिस प्रकार मेरे इष्ट पदार्थो का वियोग होनेपर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार सब जीवो को होता है। जिस प्रकार किसी दूसरेके द्वारा मेरी स्त्रीका तिरस्कार होने पर मेरे हृदयमे अत्यंत तीव्र पीड़ा होती है उसी प्रकार सब जीवो को होती है। जिस प्रकार मुझे परिग्रहो की प्राप्ति न होने पर उनकी इच्छा-जन्य अत्यंत तीव्र दुःख होता है उनकी प्राप्ति होनेपर रक्षा करनेका अत्यंत दुःख होता है और उनके नष्ट होने पर शोक उत्पन्न होनेका सबसे अधिक तीव्र दुःख होता है उसी प्रकार सब जीवों के होता है। इसलिये मै न तो किसी जीवकी हिंसा करूंगा, न झूठ बोलूंगा न चोरी करूंगा, न स्त्री का स्पर्श करूंगा और न परिग्रह ग्रहण करूंगा। इसप्रकार प्रमत्त परिणामोके संयोगसे उत्पन्न हुए हिंसा आदि कार्योको छोड़कर अप्रमत्त परिणामो से होनेवाले अहिंसा आदि व्रतों के धारण करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

समितियो के पालन करनेका विधान पहिले कहा जा चुका है और चारों प्रकारके कषायों का निग्रह करना उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव और शौचमे प्रतिपादन कर चूके है।

मन वचन कायके भेदसे दंड तीन प्रकारका है और उसमें भी राग द्वेष मोहके भेदसे मान- सिकदंड भी तीन प्रकारका है। प्रेम हास्य रति माया और लोभको राग कहते हैं, क्रोध मान अरति शोक भय जुगुप्साको द्वेष कहते है तथा मिथ्यात्व स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद प्रेम और हास्यादिक सब मोह कहलाता है। झूठ बोलना, वचनसे कहकर किसीके ज्ञानका घात करना, चुगली खाना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करनेवाले वचन कहना और हिंसाके वचन कहना यह सात तरहका वचन दड कहलाता है। प्राणियोंका वध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परि-ग्रह रखना, आरंभ करना, ताड़न करना, और उग्र वेष (भयानक) धारण करना इस तरह काय दंड भी सात प्रकारका कहलाता है। अपने आत्माको गुप्त रखनेके लिये पापोसे छिपाने वा बचानेके लिये सदा प्रयत्न करनेवाले मुनियोको इन तीनों प्रकारके दंडोका त्याग कर देना चाहिये।

विषयरूपी वन मे स्वतंत्र रीतिसे दौडनेवाले इंद्रियरूपी हाथियोंको ज्ञान वैराग्य उपवास आदि अंकुशोंसे खींचकर वश करना इंद्रियविजय कहलाता है। इस इंद्रियविजयका विस्तार आस्रवानुप्रेक्षामें कहेगे।

यह निश्चय है कि संयम धारण करना आत्माका हित करनेवाला है इसलिये जो इस संयमको धारण करता है वह इसलोकमे भी पूज्य गिना जाता है फिर भला परलोककी तो बात ही क्या है ? वहां तो पूज्य होता ही है।

असंयमी पुरुष प्राणियोकी हिंसा करना, विषय सेवन करना आदि कुमार्गोमे ही सदा प्रवृत्त रहा करता है वह मूर्तिमान् साक्षात् अशुभ कर्म ही जान पड़ता है और इसीलिये सज्जनों के द्वारा निंद्य गिना जाता है और अनेक दुष्कर्मोको (पापरूप कर्मोको) संचित करता रहता है।

निर्ग्रंथ (परिग्रह रहित) अवस्थाको धारण करनेवाले संयमी पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रंथ और स्नातकके भेदसे पांच प्रकारके होते है। जिसप्रकार पुलाक (छिलका सहित चावल) बिल्कुल शुद्ध नही हो सकता उसीप्रकार

जो बिल्कुल शुद्ध न हो अर्थात् जिनके मनमें उत्तर गुणोंके धारण करनेकी भावना बिल्कुल न हो और व्रतोंमें भी किसी जगह किसीसमय पूर्णता प्राप्त न कर सके ऐसे मुनियोंको पुलाक मुनि कहते है । जिन्होंने निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की है तथा जिनके व्रत अखंडित वा पूर्ण है परन्तु जो शरीर और उपकरणोंकी सुन्दरताका अनुराग रखते हैं (प्रभावनाके लिए) अपने यशकी वृद्धि चाहते हैं, परिवार अर्थात् अपने संघसे कभी अलग रहना नहीं चाहते इसलिये परिवारसे (संघसे) उत्पन्न हुए हर्षरूपी छेदसे जो चित्र वर्णता (चित्रलाचरण) धारण करते है और जो अच्छी तरह रहने वा सुन्दरतामें ही अपना गौरव समझते हैं उन्हे वकुश कहते है । शवल अर्थात् चित्रविचित्र वा अनेक रंगवालेको ही वकुश कहते हैं । भावार्थ—जो रागसहित चारित्र धारण करे उसे वकुश कहते है ।

कुशील दो प्रकारके होते है—एक प्रतिसेवना कुशील, दूसरे कषाय कुशील। जो परिग्रहोंसे अलग नही हुए हैं अर्थात् कमंडलु पीछी संघ गुरु आदिसे जिन्होने अपना मोह नही छोड़ा हैं, जिनके मूलगुण और उत्तरगुण दोनो ही परिपूर्ण है परंतु किसी तरह जो उत्तरगुणों की विराधना कर डालते है उनको प्रतिसेवना कुशील कहते हैं । प्रतिसेवना कुशील मुनि गर्मियोंके दिनोंमे जंघाप्रक्षालन आदि कर लेते है यही उनकी उत्तरगुणों की विराधना है । जिनके अन्य सब कषायोका उदय वश हो गया हैं कवल संज्वलन कषायका उदय बाकी है उनको कषाय- कशील कहते ह । जिसप्रकार पानीमे लकड़ी-की रेखा शीघ ही नष्ट हो जाती ह उसीप्रकार जिनके कर्मोका उदय व्यक्त वा प्रकट नहीं है और एक मुहूर्त के बाद ही जिन्हे कवलज्ञान प्रकट होनेवाला है उनको निर्ग्रंथ कहते है । ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोके नाश होनेसे जिनके केवलज्ञान आदि अतिशय और विभूतियां प्रकट हो गई है जो सयोग केवली नामक तेरहवे गुणस्थानके स्वामी है और क्षायिक नौ लब्धियोको धारण करते है ऐसे केवलज्ञानियोको स्नातक कहते है । यद्यपि इनमे किसीके

उत्तम चारित्र है किसीके मध्यम है और किसीके जघन्य है इसप्रकार इनके चारित्रसे भेद है तथापि नैगमनयकी अपेक्षासे पांचो ही निर्ग्रथ कहे जाते है। जिसप्रकार सोलह ताव लगा हुआ सोना भी सोना कहलाता है और तेरह तथा दश ताव लगा हुआ सोना भी सोना कहलाता है उसीप्रकार निर्ग्रन्थ शब्द भी समझना चाहिए। सम्यग्दर्शन और आभूषण, वेष (वस्त्र) तथा शस्त्रोसे रहित निर्ग्रन्थ- पना ये दोनो ही साधारण रीतिसे सब मुनियोमे रहते है इसलिये पुलाक आदि सब तरहके मुनियोमे निर्ग्रन्थ शब्द चारितार्थ होता है।

उत्तरोत्तर गुणोकी अधिकता और चारित्रकी विशेषता धारण करनेवाले पुलाकादि निर्ग्रन्थोका संयम आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा व्याख्यान करना चाहिये। यही बात आगे दिखलाते है। संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठो भेदो के द्वारा पुलाकादिकों को सिद्ध करना चाहिये और वह इस तरह, संयमके द्वारा—पुलाक वकुश और प्रति-सेवना कुशील ये सदा सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों मे रहते हैं। कषायकुशील सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसां-पराय इन चार संयमोसे रहते है। निर्ग्रथ और स्नातक एक ही यथाख्यात संयममे रहते है। श्रुतके द्वारा—पुलाक वकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके उत्कृष्ट श्रुतज्ञान अभिन्नाक्षर दश पूर्व तक होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रथोके चौदह पूर्व तक होता है। जघन्य श्रुतज्ञान पुलाकके आचारवस्तुतक होता है। (आचारवस्तु आचारांगका एक भाग है) वकुश कुशील और निर्ग्रन्थोके जघन्य श्रुतज्ञान अष्ट प्रवचनमातृका तक होता है। (आचारांगमे एक अधि-कार पांच समिति और तीन गुप्तिके व्याख्यान करनेका है उस अधिकार तक को अष्ट प्रवचनमातृका कहते हैं) स्नातकोके कोई श्रुतज्ञान नही होता क्योकि वे केवली होते है। प्रतिसेवना के द्वारा—प्रतिसेवना विराधनाको कहते हैं। पुलाक मुनिके पांचो मूलगुण (महाव्रत) और रात्रिभोजन त्याग इन छह व्रतोमे से दूसरेकी जवर्दस्तिसे किसी एकमे विराधना होती है। वकुश दो प्रकारके है एक उपकरण वकुश और दूसरे शरीर वकुश। जिसके चित्तमे

पीछी, कमंडलु बंधन आदि धर्मोपकरणकी अभिलाषा रहती है जो अनेक तरहके चित्रविचित्र परिग्रहोको (पीछी कमंडलु पुस्तक बंधन आदि परिग्रहों-को) धारण करता है विशेष उपयोगी बहुतसे उपकरणो की आकांक्षा रखता है और उनके संस्कारसे विराधना करता है, ऐसे मुनिको उपकरण वकुश कहते है। शरीर के संस्कारो की सेवा करनेवाला मुनि शरीर वकुश कह-लाता है। प्रतिसेवना कुशील नामका मुनि मूलगुणोकी विराधना तो नहीं करता किन्तु उत्तरगुणोंकी कुछ विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रंथ और स्नातकोंके विराधना नहीं होती। तीर्थके द्वारा—ये सब तरहके मुनि समस्त तीर्थकरोके तीर्थोमें होते है। लिंग दो प्रकारका है एक भाव लिंग और दूसरा द्रव्य लिंग। भावलिंगकी अपेक्षासे पांचों प्रकारके सब ही मुनि निर्ग्रथ लिंगको धारण करते है तथा द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे[1] सबका अलग २ विभाग कर लेना चाहिए।

लेश्याके द्वारा—पुलाकके पीत पद्म शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती है। वकुश और प्रतिसेवना कुशीलके छहो लेश्याएं होती हैं। कषायकुशील और परिहारविशुद्धिवालेके कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये चारों लेश्याएं होती हैं। सूक्ष्मसांपराय निर्ग्रन्थ और स्नातकके एक शुक्ल लेश्या ही होती है। मोक्षरूपी पर्वतके स्वामीपनेको प्राप्त हुए अयोगकेवली लेश्या रहित होते है अर्थात् उनके कोई लेश्या नहीं होती। उपपादके द्वारा—पुलाक मुनिका उत्कृष्ट उपपाद अठारह सागरकी उत्कृष्ट आयुवाले देवोंमे सहस्रार स्वर्गतक होता है। भावार्थ-पुलाक मुनि शरीर छोड़कर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि बाईस सागरकी आयु पाकर आरण और अच्युत स्वर्गतक उत्पन्न हो सकते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ जातिके मुनि तेतीस सागरकी आयु पाकर सर्वार्थसिद्धिमे उत्पन्न

१—द्रव्य लिङ्गकी अपेक्षासे—कोई आहार करता , कोई उपवास करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है। कोई तीर्थ विहार करता है, कोई अनेक आसनोसे ध्यान करता है किसी के दोष लगता है, किसीके नही लगता, कोई प्रायश्चित्त लेता है, कोई आचार्य है, कोई निर्यापक है, कोई केवली है इत्यादि बाह्य प्रवृत्तिको अपे । अनेक तरहसे लिङ्ग भेद होता है।

हो सकते हैं। इन सबका जघन्य उपपाद दो सागरकी आयु लिए हुए सौधर्म स्वर्ग है अर्थात् ये मुनि कमसे कम दो सागरकी आयु पाकर सौधर्म स्वर्गमें तो उत्पन्न होते ही हैं। स्नातक मुक्त ही होता है।

स्थानके द्वारा कषायोंके निमित्तसे संयमके असंख्यात स्थान होते हैं उनमें से सबसे जघन्य लब्धिस्थान पुलाक और कषाय कुशीलके होते हैं वे दोनों ही असंख्यात स्थानतक तो साथ साथ रहते हैं परन्तु फिर पुलाक अलग हो जाता है उसके बाद कषाय कुशील असंख्यात स्थान तक अकेला ही जाता है। उसके बाद कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असंख्यात स्थानतक साथ साथ जाते हैं फिर बकुश वहीं रह जाता है। उसके बाद असंख्यात स्थानतक जाकर प्रतिसेवना कुशील ठहर जाता है उससे आगे भी असंख्यात स्थान जाकर कषाय कुशील रह जाता है। इसके बाद अकषाय स्थान हैं उन्हें निर्ग्रंथ प्राप्त करता है। वह भी असंख्यात स्थान जाकर अलग हो जाता है उसके बाद एक स्थान ऊपर जाकर स्नातक मुक्त होता है। इन सबके उत्तरोत्तर संयमकी प्राप्ति अनंतगुनी होती है।

इसप्रकार संयमका वर्णन किया।

अब आगे परीषहजय प्रकरण को कहते हैं—

संयमी तपस्वीको सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करनेकेलिये परिषहोंको सहन करना चाहिए। लिखा भी है–परिषोढव्या इत्यादि। दर्शन और चारित्रकी रक्षा करनेके लिये तत्पर रहनेवाले मुनियोंको सदा परिषहों-को सहन करना चाहिये। क्योंकि ये परिषहे संयम और तप दोनोंका ही विशेषरूप हैं तथा उन्हीं दोनोंका एकदेश है।

इसप्रकार शास्त्रोंमें लिखा है और इसलिये इस ग्रंथमें ये परिषहे संयम और तप दोनोंके मध्यमें कही गई हैं। जो साधु कर्मोंके आनेके मार्गको बंद कर देते हैं तथा "मैं श्रीजिनेन्द्रदेव के कहे हुए मार्गसे कभी च्युत न होऊं" इसलिये जो पहलेसे ही परिषहोंको जीतते रहते हैं इसतरह परिषहोंको जीतकर जो कभी परिषहोंसे तिरस्कृत नहीं होते और मुख्य संवरका आश्रय

लेकर बिना किसी रुकावटके क्षपकश्रेणी चढनेकी सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार पक्षी अपने पंखोपर लगी हुई धूलको झाड़कर ऊपरको उड़ जाते है उसीप्रकार जिनका उत्साह सदा पूर्ण रहता है और जो समस्त सांपराय आस्रवको नाश करनेकी शक्ति रखते है ऐसे मुनिराज अपने ज्ञान और ध्यानरूपी कुल्हाड़ीसे जड़ काट कर कर्मोको गिरा देते है—नष्ट कर डालते है और फिर मुक्त होकर ऊपरको गमन कर जाते है इसीकेलिये (मुक्त-होनेके लिए) परिषहोका सहन करना आवश्यक है।

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन ये बाईस परिषहे कही जाती है। ये परिषहे बाह्य और अभ्यंतर द्रव्योके परिणामोसे प्रगट होती है तथा शरीर और मनको सबसे कठिन पीड़ा देती है इसलिये इनका विजय करनेके लिये विद्वान और मोक्षकी इच्छा करनेवाले संयमी तपस्वीको अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। वह प्रयत्न किस प्रकार करना चाहिये यही आगे बतलाते है—

जिन्होने शरीरके विशेष संस्कार सब छोड़ दिये है जो केवल शरीर मात्रको ही धर्मका उपकरण मानकर उसीसे संतुष्ट रहते है, जो तप और संयमके विघ्नोको सब तरहसे दूर करते रहते है। कृत, कारित, अनुमत, संकल्पित, उद्दिष्ट, संक्लिष्ट, क्रियागत, प्रत्यादत्त, पूर्वकर्म, पश्चात्कर्म इन दश प्रकारके दोषोमेसे कोई भी दोष लग जानेसे जो उसी समय आहारका त्याग कर देते है तथा जो देश काल और देशकी व्यवस्थाकी भी अपेक्षा रखते है उनके उपवास, मार्गका परिश्रम, रोगका परिश्रम, तपश्चरणका परि-श्रम, स्वाध्यायका परिश्रम, आहारके समयका उल्लघन हो जाना, अवमौदर्य अर्थात् कम भोजन करना, और असाता वेदनीय कर्मका उदय इन सब कारणोंके द्वारा अनेक आहाररूपी ईधनो से वंचित रह जानेपर (कितने ही-दिनतक आहार न मिलनेपर) पेटकी आंतो की दाहिनी ओरकी वायुके

आंदोलनसे बढ़ी हुई अग्निकी शिखाके समान चारों ओर से शरीर, इंद्रिय और हृदयको क्षोभ उत्पन्न करनेवाली क्षुधा उत्पन्न होती है। उस क्षुधा का प्रतीकार मन वचन काय तीनों से असमयमें संयमकी विराधना करनेवाले द्रव्यों से न तो वे स्वयं करते है न करनेवाले अन्य किसीको करने देते है और न मनमें कभी भी उस क्षुधाका प्रतीकार करनेके लिए विचार करते है। यह क्षुधाकी वेदना वा भूखका दुःख बड़ा ही कठिन है, समय बहुत बड़ा है और अभी दिन बहुत बाकी है इसप्रकार का विषाद वा खेद भी कभी नहीं करते, शरीरमें केवल चमड़ा, हड्डी और नसों का जालमात्र रह जानेपर भी आवश्यक कार्योमे सदा तत्पर रहते है। क्षुधाके कारण जिन्हे अनेक अनर्थ प्राप्त हुए है ऐसे जेलखाने वा हिरासतमें रोके हुए मनुष्य अथवा पिंजड़ों में पड़े हुए पशु पक्षी आदि भूखसे पीड़ित रहनेवाले और परतंत्र रहनेवालों के दुखों का सदा विचार करते रहते हैं ऐसे ज्ञानी मुनिराज शांत परिणामरूपी घड़ेमें भरे हुए धैर्यरूपी जलसे क्षुधारूपी अग्निको शांत करते रहते हैं और इस तरह उस क्षुधासे उत्पन्न हुई पीड़ाको बिल्कुल नहीं जानते उसको क्षुधा विजय अथवा क्षुधा परीषहका जीतना कहते हैं।

जो मुनिराज पानीसे स्नान करना, पानीमें अवगाहन करना, वा पानी का छिड़कना आदि बातोंके त्यागी है, पक्षियों के समान न तो जिनका कोई आसन ही निश्चित है और न कोई स्थान ही निश्चित है भोजनमे अधिक लवण खा लेनेसे, चिकने रूखे अथवा और किसी तरहके विरुद्ध आहारका संयोग मिल जानेसे वा गर्मी धूप पित्तज्वर उपवास आदि अनेक कारणोंके द्वारा जो शरीर और इंद्रियों को अत्यंत त्रास देनेवाली प्यास लगती है उसके प्रतीकार करनेका विचार वे कभी मनमे भी नहीं लाते, गर्मीका समय है, सूर्यकी तेज किरणे जला रही है, वनमे सरोवर भी पास है तो भी जलकायिक जीवों के बचाव करनेकी इच्छासे कभी जल ग्रहण नही करते, जल सींचनेके विना मुरझाई हुई लताके समान मुरझाई हुई वा ग्लानि करने योग्य

बुरी दशाको प्राप्त हुई शरीररूपी लकड़ीको कुछ भी न गिनते हुए तपश्चरणके पालन करनेमे ही तत्पर रहते है भिक्षा करनेके समय भी किसी इशारे वा आकारसे योग्य पानीको पीनेके लिये भी प्रेरणा नहीं करते और परम धैर्यरूपी घड़ेमे भरे हुए शीतल सुगंधित प्रतिज्ञा रूपी जलसे जो प्यासरूपी अग्नि की शिखाको बुझाते है उनके संयममे तत्पर रहनेवाला पिपासाविजय अथवा पिपासा परिषहका सहन करना कहलाता है।

जिन्होने वस्त्रमात्र का त्याग कर दिया है पक्षियों के समान जिनका कोई स्थान निश्चित नहीं है जाड़े गर्मी और वर्षारितु मे वृक्ष के नीचे चौहटे तथा गुफा आदिको में रहने से जाड़े के दिनों मे जो बहुत सा बर्फ वा ओस पड़ती है, तथा बहुत से ओले बरसते है उनकी ठंडी वायु से जिनका शरीर अत्यंत ठंडा हो रहा है उस ठंडक को दूर करने की सामर्थ्य रखने वाले अग्नि आदि अन्य द्रव्यों की भरपूर अनिच्छा होने से नारकियों की शीत वेदना के घोर दुःखों का स्मरण करने से तथा उस ठंडक को दूर करने का उपाय करने मे परमार्थ के बिगड़ने का भय होने से, विद्या मंत्र औषध पत्ते, छाल, चमड़ा, तृण आदि पदार्थों के संबंध से जिनका चित्त बिल्कुल हट गया है जो शरीर को बिल्कुल दूसरा (आत्मा से भिन्न) मानते है, जिन्होने एक प्रकार का अटल धैर्यरूपी वस्त्र ही ओढ़ रक्खा है मुनि होने के पहिले जो ऐसे भीतरी घरों मे रहते थे जिनमे चारों ओर धूप जल रही थी, पुष्पों के ढेर लग रहे थे, दीपक का प्रकाश हो रहा था और नवयौवन उत्तम स्त्रियों के उष्ण स्तन नितंब और भुजाओ के मध्य भाग मे रहने से शीत दूर ही से भाग रहा था ऐसे घरो मे सुरतसुख का आनंद लेते हुए निवास करते थे परंतु अब उस अनुभूत सुख मे भी कुछ सार न होने से कभी उसका स्मरण तक नहीं करते है तथा इस प्रकार की शीत वेदना को सहन करते हुए भी कभी विषाद नहीं करते है और इस तरह संयम का परिपालन पूर्ण रीति से करते है उसको शीतविजय अथवा शीतपरिषहका सहन करना

कहते हैं।

अत्यंत उष्ण और बहुत तेज सूर्य की तेज किरणों से जिनका शरीर सब संतप्त हो गया है, प्यास, उपवास, पित्त, रोग, धूप, परिश्रम आदि कारणों से जिनके शरीर में उष्णता प्रगट हो रही है जो खेद शोष और दाह से मर्दित हो रहे हैं, मुनि होने के पहिले जो जल भवन मे रहते थे, जलमें अवगाहन करते थे, शरीर पर ठंडा लेप लगाते थे, शरीर को गुलाबजल आदि से छिड़कते थे, जमीन पर छिड़का कर बैठते थे, कमलों के दल, केलों के पत्ते बिछाते थे, ऊपर से वायु झेलते थे, जलकी बावड़ी में क्रीड़ा करते थे, चंदन का लेप करते थे, चंद्रमा की चांदनी में बैठते थे, कमल कमोदनी, और मोतियों के हार पहिनते थे, इत्यादि बहुत से शीतल पदार्थो को काम में लेते थे परंतु अब भोगे हुए पदार्थों से भी जिन्होंने अपना चित्त बिल्कुल हटा लिया है, जो सदा यही विचार करते रहते हैं कि मैंने परवश होकर अनेकबार अत्यंत तीव्र उष्णवेदनाएं सहन की परंतु अब स्वयं इस वेदना को सहन करना तो मेरा तपश्चरण है जो कि कर्मों के नाश करने का कारण है इसीलिये जो उष्णता को दूर करने वाली क्रियाओं के प्रति कभी आदर भाव नहीं करते और इस तरह अपने चारित्र की रक्षा पूर्ण रीतिसे करते हैं इसको उष्णविजय अथवा उष्णपरिषहको जीतना वा सहन करना कहते हैं।४।

जिन्होंने सब तरहके शरीरके आच्छादनोंको त्याग करदिया है, जिनका हृदय किसी एक जगह बंधा हुआ नहीं है, दूसरोंके बनाये हुए वसतिका, गुफा, कोटर, आदि स्थानोंमे रहनेसे रात्रि वा दिनमे डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, मधुमक्खी, खटमल कीड़े चींटी और बिच्छूआदि तीक्ष्ण जानवर जिन्हे काटरहे हैं और अत्यंत तीव्र वेदना दे रहे हैं तथापि जिनका हृदय कभी व्यथित वा खिन्न नहीं होता, जो सदा अपने कर्मोके उदयका चितवन करते रहते हैं, विद्या मंत्र औषधि आदिके द्वारा उन जानवरों को जो कभी दूर करनेकी इच्छा नहीं करते शरीरका नाश होने तक भी जो अपने आत्मामे ही निश्चल

रहते है जिस प्रकार जो दूसरेके बलको मर्दन करनेके लिये (चूर करनेके लिये) तैयार है जिसकी सेनामे मदोन्मत्त गंधसिंधुर नामके हाथी है और जो शत्रुओं के द्वारा चलाये हुए अनेक तरहके शस्त्रो से भी कभी विमुख नहीं होता ऐसे किसी राजाका विजय निर्विघ्न होता है उसी प्रकार जो कर्मरूपी शत्रुओं की सेनाका पराभव करनेके लिये प्रयत्न करना दंशमशकबाधासहन अथवा दंशमशक परीषहका जीतना कहलाता है। यहां पर दंशमशकका ग्रहण उपलक्षणसे किया है जैसे कौवेसे दहीकी रक्षा करना यह उपलक्षण है इसका अभिप्राय यह है कि कौवेसे तथा कुत्ता बिल्ली आदि सबसे दहीकी रक्षा करना उसी प्रकार डांस मच्छरकी परीषह सहन करनेका अभिप्राय डांस मच्छर बिच्छू मक्खी आदि सभी जानवरो की परीषह सहन करना है।॥५॥

जो गुप्ति समितियों का कभी विरोध नहीं करता परिग्रहका बिल्कुल त्याग कर देता है और ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करता है, बिना प्रार्थना किये ही जो मोक्षका साधन है चारित्रका अनुष्ठान करनेवाला है जिसका स्वरूप पैदा हुएके समान स्वाभाविक है बिना संस्कार किया हुआ और विकार रहित है, मिथ्यादर्शनसे जकड़े हुए लोगों का विरोधी है और परम मंगलरूप है ऐसे नाग्न्यको (नग्न अवस्थाको) जो धारण करते है जो स्त्रियोके स्वरूपको सदा अपवित्र, वीभत्स और घृणित भावसे देखते है वैराग्य भावनाओं के द्वारा जिनके मनके विकार सब रुक गये है जो अपनी मनुष्य पर्यायका कभी विचार नहीं करते केवल आत्मामे लीन रहते है उनके नग्न रहनेसे उत्पन्न होने वाले दोषोका स्पर्श न होनेसे नग्न परीषहके विजय होने की सिद्धि होती है अर्थात् नग्न परिषहका विजय करना वा सहन करना कहलाता है इसीलिये नग्न अवस्था धारण करना उत्तमसे उत्तम कल्याण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति का कारण कहा जाता है। जो लोग नग्न अवस्था धारण नहीं कर सकते वे मनके विकारोंको रोक नहीं सकते इसीलिये उन विकारोके कारण उत्पन हुए शरीरके विकारोको छिपानेकी इच्छासे शरीरको ढकनेके लिये कोपीन, लंगोटी,

कपड़ा आदि शरीर ढकनेके साधनोंको ग्रहण करते हैं। परन्तु उनकी इस क्रियासे आते हुए कर्म कभी नहीं रुक सकते ॥६॥

जो मुनि भूख प्यासआदिकी बाधायें उत्पन्न होना, संयम की रक्षा करना इंद्रियोंका दुर्जयपना व्रतोंके पालन करनेके भारसे गौरव धारण करना, सदा अप्रमत्त वा प्रमाद रहित रहना, अनेक देशोकी भाषाओंको न जानना, विषम तथा चंचल प्राणियोका तथा अत्यंत भयानक पदार्थों का संसर्ग होना और दुर्गम एक क्षेत्रमे नियमरूपसे विहारकरना आदि कारणोंके द्वारा जो अरति उत्पन्न होती है उसेविशेष धैर्यसे निवारण करते हैं और जो संयममे प्रेमरूप भावना होनेके कारण विषयसुखसे उत्पन्न हुई रतिको अत्यंत विषम आहार ग्रहण करनेके समान फल देनेके समय अत्यंत कड़वी अथवा दुःखदायक समझते है उनके अरतिपरिषह की बाधा कभी नहीं हो सकती इसीलिये उनके अरति परिषहका जीतना अथवा सहन करना कहलाता है ॥७॥

किसी वसतिका अथवा बगीचा आदि एकांत स्थानमे रागसे, द्वेषसे, यौवन के दर्प से, रूपके मदसे अथवा विभ्रम उन्माद और मद्यपान आदिके आवेशसे अनेक स्त्रियां आकर सतावे तो उससमय भी उन स्त्रियों के, नेत्र टेढो भोओं के विकार श्रृंगार, आकार, विहार, हाव, भाव, विलास, हास लीलापूर्वक फेके हुए कटाक्ष, सुकुमार कोमल चिकने और बड़े उठे हुए स्तनरूपीकलश, अत्यंत लाल अधर, बड़े बड़े जघन, रूप, गुण, आभरण, गंध वस्त्र माला आदिसे भी जिनके मनमे कभी विकार प्रगट नहीं होता, जो उनके देखनेकी भी कभी इच्छा नहीं करते, स्निग्ध कोमल विशद और सुकुमार नामकी वीणाओं की आवाजसे मिले हुए मधुर गीतो के सुननेसे भी जो अपने कानों को बिलकुल दूर हटा लेते है, जो कछुएके शरीरके समान इंद्रिय और हृदयके विकारों को संकुचित कर लेते है, मनोहर हास्य, मधुर भाषण, सविकार वीक्षण, हंसी ठट्ठा, मदोन्मत्त होकर धीरे धीरे गमन करना, और कामदेव के बाणों के व्यापार आदि सबको निष्फल करनेवाला जिनका चारित्र है

और जो सदा यही विचार किया करते हैं कि यह संसार महासागर है संकटरूप पाताल और सब नारकीय रौद्र दुःख स्वरूप अगाध भ्रमणों के द्वारा कुटिल है इसप्रकारका विचार करते हुए जो स्त्रियो के अनर्थोसे अलग रहते है उनके स्त्रीपरिषहजय अर्थात् स्त्रीपरिषहको जीतना वा सहन करना कहलाता है। अन्य वादियों के कल्पना किए हुए ब्रह्मा आदि विशेष देवताओ के भी चंचल नेत्रो में तिलोत्तमा आदि देव गणिकाओ की रूप संपत्ति देखकर विकार उत्पन्न हो आया था और वे स्त्रीपरिषहरूपी कीचड़ से अपनी आत्माका उद्धार नही कर सके थे ॥ ८ ॥

जिन्होने गुरुकुलमे (आचार्य के संघमें) बहुत दिन तक रहकर ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया है, जो बंध मोक्ष आदि पदार्थो और तत्वों को अच्छी तरह जानते है, कषायो के निग्रह करने में सदा तत्पर रहते है जिनका मन सदा भावनाओ मे ही लगा रहता है, जो संयम पालन करने के लिये और तीर्थ-क्षेत्र आदि धर्मायतनो की भक्ति करने के लिये अन्य देशो में भी विहार करते है, अन्य देशो मे जाने के लिये जिन्होने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर ली है, जो अनेक देशोके आहार व्यवहारको अच्छीतरहसे जानते हैं, अधिक से अधिक गांव में एक रात रहेगे और नगर मे पांच रात रहेंगे यही समझकर जो गमन करते हैं, जो वायुके समान परिग्रहरहित है, देशकालके प्रमाणके अनुसारप्राप्त हुए मार्ग के गमन का जिन्हे पूर्ण अनुभव है, जो क्लेशों को सहन करने मे समर्थ है, भयानक वनोमे भी सिहके समान निर्भय होकर गमन करते है तथा किसी तरह की भी सहायता की अपेक्षा नहीं रखते, कठिन बालू कांटे आदि के द्वारा पैर फट जाने से जिनके पैरो मे खेद हो रहा है तो भी पहिले के रथ घोड़ा आदि सवारियो पर कियेहुए गमनको कभी स्मरणतक नही करते, इस प्रकार जो चर्या के (चलने के)दोषों को अच्छी तरह दूर करते है उनके चर्यापरिषहजय अथवा चर्या परिषहको जीतना वा सहन करना कहलाता है ॥ ९ ॥

जो श्मशान, उद्यान,सूना मकान, पर्वत की गुफा, और कोटर आदिऐसे स्थानों मे जाकर विराजमान होते है जहां कभी भी पहिले विराजमान न हुए हों, जो संयम की सब क्रियाएं जानते है, धैर्य ही जिनका सहायक है जो बड़े उत्साही हैं, उपसर्ग और उग्र रोगों के विकार उत्पन्न होने पर भी उस स्थान से कभी चलायमान नहीं होते. मंत्र विद्या आदि कारणो के द्वारा जो कभी उसका प्रतिकार नहीं चाहते अनेक छोटे छोटे जंतुओं के होने से तथा विषम (ऊंचा नीचा) स्थान होने से जो लकड़ी और पत्थर के समान निश्चल रहते हैं, पहिले अनुभव किये हुए कोमल बिछौने आदि के स्पर्श के सुखको जो कभी मन तक में नहीं लाते, सदा प्राणियो की पीड़ा दूर करने के लिये ही तत्पर रहते है जिनकी बुद्धि ज्ञान और ध्यान की भावना के ही आधीन रहती है और जो प्रतिज्ञा किये हुए वीरासन उत्कुटिकासन आदि में सदा तल्लीन रहते है ऐसे मुनियों के आसन के दोषोंका विजय होने से निषद्या परिषहसहन अथवा निषद्यापरिषहका जीतना कहते है ।। १० ।।

जो स्वाध्याय ध्यान और मार्ग के परिश्रम से खेदखिन्न हैं, कठिन ऊंची नीची बहुत सी रेतीवाली जिसमें बहुत से कपाल वा टुकड़े पड़े हुए है जो अत्यंत शीत वा अत्यंत उष्ण है ऐसी भूमि के ऊपर जो मुहूर्तभर निद्रा का अनुभव करते है, सीधे लेटकर वा किसी एक कर्वट से लेट कर दंडे के समान निद्रा लेते है, विशेष बाधा वा उपद्रव उपस्थित होने पर भी संयम पालन करने के लिए जो किसी तरह की हलन चलन क्रिया नही करते, व्यंतरादि देव अनेक तरह की पीड़ा देते हैं तथापि जो भागने की बिल्कुल इच्छा नहीं करते, जिन्हे मरने का डर बिल्कुल नहीं है, पड़ी हुई लकड़ी के समान अथवा मरे हुए मुरदे के समान जो अपना शरीर निश्चल रखते है, यह स्थान गेंडा सिंह, सर्प अजगर आदि दुष्ट जीवोसे भरा हुआ है इसलिये यहां से शीघ्र ही दूसरी जगह चला जाना अच्छा है यह रात कब पूरी होगी इत्यादि विषाद कभी नहीं करते, सुख मिलने पर भी जो हर्ष नहीं मानते, पहिले अनुभव

की हुई मक्खन के समान कोमल शय्या का जो स्मरण नहीं करते और जो आगम के अनुसार कहे हुए उत्तम निर्दोष शयन करने से कभी अलग नहीं होते ऐसे मुनियों के शय्यासहन अथवा शय्या परिषह का जीतना कहलाता है। ११।

जो कान के पास जाते ही हृदय में शूल उत्पन्न करदे, और क्रोधरूपी अग्नि की शिखा को खूब बढ़ादे ऐसे तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से घिरे हुए मिथ्यादृष्टि, अनार्य, म्लेच्छ, दुष्ट पापाचारी मदोन्मत्त और महाअभिमानी और सशंकित जीवो के कठोर वचन, धिक्कार के वचन और निंदा करने वाले तथा गाली आदि बुरे वचनों को तथा उनके बुरे अभिप्रायो को सुनते हुए भी जिनका मन सदा दृढ़ रहता है, यद्यपि बुरे वचन कहने वाले को भस्म करने की सामर्थ्य रखते हैं तथापि परमार्थ की ओर चित्त लगे रहने से उस बुरे वचन कहने वालेकी ओर वा उसके अभिप्रायो की ओर कभी आंख उठाकर देखते तक नहीं, जो सदा यही विचार करते है कि यह मेरे ही अशुभ कर्मो का उदय है जो ये लोग मुझसे द्वेष करते है इस प्रकार के उपायों से अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश परिषहजय अथवा आक्रोशपरिषह को जीतना वा सहना कहते है ।। १२ ।।

जो गांव, उद्यान, नगर, वन, और पुर में रात दिन अकेले रहते हैं तथा जिनका शरीर बिल्कुल आवरणरहित है. उन मुनियों को चारों ओर फिरते हुये चोर, लुटेरे, म्लेच्छ, जासूस, बहिरे, जिनका पहिले कुछ अपकार हो चुका है और स्वाभाविक द्वेष करने वाले अन्यमती लोग क्रोधित होकर ताड़ना करते है, खींचते हैं बांधते है और शस्त्रो की चोट से मारते हैं तथापि जिन्हें वैर उत्पन्न नहीं होता, वे शुद्ध भावो से यही विचार करते है कि यह शरीर अवश्य ही नष्ट होनेवाला है यह कुशलतापूर्वक इसे नष्ट कर रहा है कुछ मेरे व्रतशील और भावनाओ का नाश तो नहीं करता इस प्रकार जिनके भाव शुद्ध रहते है, शरीर को जला देने पर भी जो सुगंध छोड़ते हुए

चन्दनके समान अपने परिणामों को सदा निर्मल रखते हैं, अपने कर्मों की निर्जरा करने मे ही तत्पर रहते है, जिनकी बुद्धि सदा दृढ रहती है और जिनके क्षमारूपी औषधि ही सबसे बड़ा बल रहता है और जो मारनेवाले को भी मित्रके समान ही देखते हैं ऐसे मुनियोंके जो ईर्षा द्वेष दूर करने की भावना रहती है उसे वधमर्षण अथवा वध परिषहका जीतना कहते है ॥१३॥

क्षुधा, मार्गका परिश्रम, तप और रोगादिकके कारण भी जिनकी शक्ति कम नहीं हुई है, सूखे वृक्षके समान जिनके शरीरमे आर्द्रता वा शिथिलता बिल्कुल नहीं आई है परंतु जिनकी हड्डी और नसोंका समूह नवा भी नहीं है ज्योंका त्यों उन्नत रहता है, जिनके दोनों नेत्र नीचे की ओर रहते हैं अधर सूखे रहते हैं तथा कपोल दुबले और सफेद रहते हैं चमड़ेके समान जिनके अंग और उपागोंका चमड़ा संकुचित हो गया है, जंघाएं एड़ियां कमर और भुजाएं जिनकी शिथिल हो गई है, जो देश कालके क्रमके योग्य आहार ग्रहण करते है, जिन्होंने बोलना बंद कर दिया है अर्थात् मौन धारण कर लिया है, जो केवल शरीरको दिखाकर ही वापिस चले जाते हैं, जिनकी शक्ति बहुत बढ़ी हुई है, जिनका चित्त सदा ज्ञानको बढ़ानेमे ही लगा रहता है, प्राणोंका नाश होने पर भी जो वसतिका आहार और औषधियोको दीन होकर, मुखकी आकृति बिगाड़कर अथवा शरीरकी किसी संज्ञासे इशारेसे कभी याचना नहीं करते, आहार लेनेके समय भी बिजलीकी चमकके समान जो बहुत शीघ्र दिखाई देकर चले जाते है जिसप्रकार रत्नके व्यापारियोको बहुत दिनोंमें अच्छी मणियोंका दर्शन होता है इसी प्रकार जो अपने शरीरको दिखलाना भी उदारता समझते है वंदना वा पड़गाहन करनेवालेके यहां जो हाथोंको पसारकर करपात्र आहार करते है उसको भी वे अदीनभाव समझते हैं इसप्रकार याचना नहीं करना याचनासहन अथवा याचनापरिषहका जीतना कहलाता है। आजकल काल दोषसे दीन अनाथ और पाखंडी बहुतसे हो गये है और वे संसारमें मोक्षमार्गका स्वरूप और आत्माका

स्वरूप न जाननेके कारण याचना करते है ॥ १४ ॥

जो वायुके समान बिना किसीको साथ लिए अथवा बिना किसी परिग्रहके अनेक देशोमे विहार करते है, जो अपनी शक्ति कभी प्रकाशित नहीं करते, जिनके दिनमे एक ही बार भोजन करनेकी प्रतिज्ञा रहती है, आहारके समय किसीके घर जाकर एकबार शरीर दिखलाना (पड़गाहन-न करने पर लौट आना) ही जिनका व्रत रहता है, "दे दीजिए" इत्यादि असभ्य शब्दों के प्रयोग करनेका (किसीसे मांगनेका) जिनके सर्वथा त्याग रहता है, जो शरीरकी कोई प्रतिक्रिया नहीं करते, "आज ऐसा है, कल ऐसा होगा" इसप्रकारके संकल्प का जिनके सर्वथा त्याग रहता है, एक गांवमे आहार न मिलने पर जो दूसरे गांवमे ढूंढनेके लिए कभी नहीं जाते, जिनके पास केवल हाथ ही पात्र रहते है अन्य कुछ नहीं, बहुत दिनोंतक और बहुतसे घरो मे आहार न मिलने पर भी जो अपने हृदयमे कभी संक्लेश परिणाम नहीं करते, यह दाता नहीं है अमुक गांवमे अमुक मनुष्य दानशूर है बडा दानी है और अत्यंत धन्य मनुष्य है इसप्रकारकी परीक्षा जो कभी नहीं करते और जो "आहार मिलनेकी अपेक्षा आहार न मिलना ही मेरे लिए परम तपश्चरण है इसप्रकार मानते हुए आहार न मिलनेसे ही परम संतुष्ट रहते हैं ऐसे मुनियों के अलाभ विजय अथवा परीषहका जीतना कहलाता है ॥ १५ ॥

यह शरीर दुःखो का आधार है, अपवित्रताका पात्र है, जीर्णवस्त्रके समान त्याग करदेनेके योग्य है पित्त और कफके संयोगके कारण अनेक रोगो की वेदनासे कदर्थित है और आत्मासे बिलकुल भिन्न है इसप्रकार जो शरीरके स्वरूपको मानते है, शरीरकी ओर उपेक्षा होनेसे जो उसके नाश होनेतक चिकित्सा (इलाज) करनेकी चेष्टा कभी नहीं करते, धर्मसाधन करनेके लिये शरीर का टिकना आवश्यक है इसलिये, जो घावपर लेप करनेके समान योग्य और शास्त्रानुसार आहार करते है, विरुद्ध आहार

ग्रहण करनेके तथा नीरस और विषम आहार ग्रहण करनेसे वायु आदिके अनेक रोग जिनके हो गये हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर भी जो कभी उनके वश नहीं होते, जल्ल, औषधि, प्राप्त आदि अनेक तपोविशेषसे उत्पन्न हुई ऋद्धियों के संयोग होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो कभी उन व्याधियों के प्रतिकार करनेकी इच्छा नहीं करते "यह सब पहिले किये हुये पाप कर्मोंका फल है इस उपाय से (उन-रोगों के कारण अर्थात् वे पाप कर्म अपना रागरूप फल देकर नष्ट हो जायेंगे इसलिये) मैं उन कर्मोंके ऋणसे छूट जाऊंगा" इसप्रकार जो बार बार चिंतवन करते हैं उनके रोग सहन अथवा रोग परीषहका जीतना कहते है ।। १६ ।।

जो स्वाभाविक प्राप्त हुए अधिकरण पर सोते वा बैठते हैं, प्रासुक और बिना संस्कार किये हुए सूखे तृण, कठिन पत्थरकी भूमि, कांटे और पत्थरके टुकड़े वाली शिलाभूमियों पर व्याधि,(मार्गका चलना) और शीत उष्णसे उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर करनेके लिये सोते हैं अथवा बैठते हैं बिना संस्कार किये हुए तृणादिकों से जिनके शरीरपर अनेक तरहकी बाधाएं आरही हैं। खुजलीका विकार प्रगट हो रहा है तथापि जो उसके दुःखका कभी चिंतवन नहीं करते तथा तृण आदिके स्पर्शसे उत्पन्न हुई बाधाके जो कभी वश नहीं होते इसलिये उनके तृणस्पर्श सहन अथवा तृणस्पर्श परीषहका जीतना कहलाता है ।।१७।।

जलकाय और जलचर जीवों की पीड़ा दूर करनेके लिये जिनके स्नान न करनेकी प्रतिज्ञा है, पसीना और धूलिसे जिनका सब शरीर मलिन हो रहा है, बादर निगोद प्रतिष्ठित जीवोंकी दया पालन करनेकेलिये तथा शरीरका संस्कार दूर करनेकेलिये जिन्होंने उवटन आदि करना सब छोड़ दिया है, सीपरोग खुजली और दाद से जिनका सब शरीर भर रहा है, नाखून रोम, दाढी मूंछों के बाल आदिके विकारों से उत्पन्न हुए तथा

स्वाभाविक बाह्य मल का संबंध होनेसे जिनके शरीरके चमड़े पर अनेक विकार हो गये है अपने शरीर का मल दूरकरनेके लिये अथवा दूसरेका मल दूर करनेके समय जिनका हृदय सदा प्राणियो के हित करनेमे ही लगा रहता है कल्पना किये हुये सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्ररूपी निर्मल जल से धोकर कर्ममलरूपी कीचड़ को दूर करनेके लिये जो सदा तत्पर रहते है और पहले अनुभव किये हुये स्नान उवटन लेपनका स्मरण करनेसे जिनके चित्तवृत्ति सदा पराङ्मुख रहती है। भावार्थ–जो पहिले किये हुये स्नानादिका कभी स्मरण नहीं करते उन मुनियों के मल धारण अथवा मल परीषहका जीतना कहलाता है। केशो का लोच करने और उन बालो का संस्कार कभी न करने मे भी बड़ा भारी खेद होता है इसलिये उस खेदको सहन करना भी मल परीषह को जीतनेमे ही शामिल है ॥ १८ ॥

जो बहुत कालसे ब्रह्मचारी है महातपस्वी है, अपने मतके शास्त्र और परमतके शास्त्रोका जिन्होने खूब अच्छी तरह निर्णय व निश्चय किया है, जो सदा हितोपदेश देनेमे तत्पर रहते हैं, प्रथमानुयोगकी कथाऐ कहने मे जो बहुत ही कुशल है, जिन्होने कईबार परवादियोका विजय किया है, "प्रणाम भक्ति, और शीघ्रताके साथ आसन देना आदि सत्कार के कार्य मेरे लिये कोई नहीं करता" इस प्रकारका चिन्तवन जो कभी नहीं करते, मान अपमानमे जिनका चित्त सदा समान रहता है, जो सत्कार पुरस्कारकी कभी इच्छा नहीं करते और सबके कल्याणका ही सदा चितवन करते रहते है उन मुनियों के सत्कार पुरस्कारजय अथवा सत्कार पुरस्कार परीषहका जीतना कहा जाता है। प्रशंसा आदि करना सत्कार कहलाता है और नंदीश्वर आदि पर्वके दिनो मे अथवा रथयात्रा ला तीर्थयात्रा आदि क्रियाओं के प्रारंभमे सबसे आगे करना अथवा आमंत्रण देना पुरस्कार कहलाता है ॥ १९ ॥

जो अंग पूर्व और प्रकीर्णकोंमे अत्यंत निपुण है, समस्त ग्रंथोके अर्थकी जिन्हें धारणा है, कोई भी प्रतिवादी जिनके सामने उत्तर नहीं दे सकता, जो

तीनों कालों के समस्त विषयों के पदार्थोंको जानते है जो व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों मे निपुण हैं, "मेरे सामने अन्य सब वादी लोग सूर्यकी प्रभाके सामने तिरस्कृत हुए खद्योतके समान सदा प्रतीत होते रहते है" इस प्रकारके ज्ञानके अभिमान से जो सदा अलग रहते है उनके प्रज्ञापरीषहजय अर्थात प्रज्ञापरीषह का जीतना समझना चाहिये ॥ २० ॥

"यह मूर्ख है कुछ नहीं जानता, पशुके समान है, इत्यादि आक्षेपके वचनोको जो सदा सहन करते रहते हैं, अध्ययन करनेके लिये दूसरेके द्वारा किये हुए तिरस्कार आदिमे भी जिनकी बुद्धि कभी आशक्त नहीं होती, जो बहुत दिनके दीक्षित है, अनेक तरहके विशेष २ तपश्चरणके भारसे जिनका शरीर आक्रांत हो रहा है, जो सबतरहकी सामर्थ्यसे अप्रमत्त है, 'मैने अनिष्ट मन वचन कायकी चेष्टाये सब दूर करदी है तथापि मुझे अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान आदि अतिशयज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती' इस प्रकारका विचार जो अपने मनमें कभी नहीं लाते उनके अज्ञान परीषहका जीतना समझना चाहिये ॥ २१ ॥

जो संयमियोमें प्रधान है अत्यंत कठिन २ तपश्चरण करने वाले है, परम वैराग्यकी भावनासे जिनका हृदय अत्यंत शुद्ध है, जो समस्त पदार्थ और तत्त्वोके स्वरूपको जानते हैं। अरहंत, अरहंतके आयतन, साधु और धर्मकी सदा पूजा करते रहते है "मै बहुत दिन का दीक्षित हूँ तथापि मुझे अवतक कोई ज्ञानका अतिशय प्राप्त नहीं हुआ है, महोपवास आदि तपश्चरण करने वालो को विशेष२ प्रातिहार्य प्रगट होते है यह बात केवल प्रलापमात्र है, यह दीक्षा लेना बिलकुल व्यर्थ है, और व्रत पालन करना भी निष्फल है' इस प्रकार जो अपने मनमें कभी विचार नहीं करते इसलिये सम्यग्दर्शनकी शुद्धता होनेसे ऐसे मुनियों के अदर्शन परीषह का जीतना कहलाता है ॥२२॥

इस प्रकार बिना संकल्पके उपस्थित हुई परीषहोको जो सदा सहन

करते है और अपने हृदयमें जो कभी (संक्लेश) परिणाम नहीं करते उनके रागादि परिणामों के द्वारा होने वाले कर्मास्रवका अभाव होनेसे महान् संवर होता है। ये सब परीषहें कर्मो के उदयसे प्रगट होती है यही बात आगे दिखलाते है—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती है, दर्शन मोहनीय कर्मकेउदय से अदर्शन परीषह होती है। अन्तराय कर्मके उदयसे अलाभ परीषह होती है, चारित्रमोहनीय मान कषायके उदयसे नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह होती है अरति कर्मके उदयसे अरति परीषह और वेद कर्म के उदयसे स्त्रीपरीषह होती है। वेदनीयकर्म के उदय से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह होती है।

एक ही जीवके एकही समयमे एक साथ एक से लेकर उनईस परीषह तक हो सकती है शीत उष्ण इन दो परीषहोंमे से कोई भी एक होसकती है शय्या चर्या निषद्या इन तीनोमेसे कोई भी एक होसकती है (इस प्रकार-तीन परीषह छूट सकती है) श्रुतज्ञानकी अपेक्षा बुद्धिकी तीव्रता होनेसे प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञानके अभाव होनेकी अपेक्षासे अज्ञान परीषह की उत्पत्ति होती है इसलिये इन दोनो के एक साथ होनेमे कोई किसी तरहका विरोध नहीं आता मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यक्दृष्टि सम्यग्-मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत प्रमत्तसयंत और अप्रमत्तसयंत इन सातो गुणस्थानो मे सब परीषह होती है। अपूर्वकरण नामके आठवे गुणस्था-नमें अदर्शन परीषहको छोड़कर शेष इकईस परीषह होती है। नौवे गुण-स्थानमे जहांतक वेदकी निवृत्ति नहीं होती वहांतक अरति परीषहको छोड़-कर बाकी बीस परीषह होती है, जहां वेदकी निवृत्ति होजाती है वहां स्त्री परीषह भी नष्ट होजाती है इसलिये वहां उनईस परीषह होती है उसी नौवे गुणस्थान मे मानकषायके उदयका नाश होजाने पर नाग्न्य, निषद्या आक्रोश याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह नष्ट होजाती है इन पांचों परीषहोंके

नाश होजाने पर शेषके अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तथा सूक्ष्मसांपराय उपशांतकषाय और क्षीणकषाय इन चारो गुणस्थानों मे बाकी की चौदह परीषह होती हैं। क्षीणकषाय गुणस्थानमें प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट होजाती हैं। जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निसे घातिया कर्मरूपी ईंधनको जला दिया है जिनके अप्रतिहत अनंत ज्ञानादि चतुष्टय प्रगट हुआ है अंतराय कर्मके अभाव होनेसे जिनके निरंतर शुभ पुद्गल वर्गणाओं का समुदाय बढता जारहा है ऐसे भट्टारक सयोगी केवली भगवान के यद्यपि वेदनीय कर्म विद्यमान है तथापि उसके बलको सहायता देने वाले घातिया कर्मो का नाश हो जानेसे उसमे अपना प्रयोजन उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं रही है। जिसप्रकार मंत्र औषधि आदिके बलसे जिसकी मारणशक्ति (प्राण हरण-करनेकी शक्ति) नष्ट करदी गई है ऐसा विष खालेने पर भी वह किसीको मार नहीं सकता अथवा जिस प्रकार जिसकी जड़ काट डाली गई है ऐसा वृक्ष फल और फूल नहीं देसकता अथवा जिसप्रकार उपेक्षा बुद्धि रखने वाले मुनियोंके नोवे दशवे गुणस्थानोंमे मैथुन और परिग्रह संज्ञा केवल नाम-मात्रको होती है अथवा जिस प्रकार पूर्ण केवलज्ञानके होनेपर एकाग्र चिंता-निरोधरूप ध्यानका अभाव होनेपर भी कर्मरूपी रजके नाश होनेरूप फल की संभावना होनेसे ध्यानका उपचार किया जाता है उसी प्रकार क्षुधारोग और वध आदि वेदनाओं के सद्भाव रूप परीषहो का अभाव होनेपर भी केवल वेदनीय कर्म के उदयरूपी द्रव्य परीषह का सद्भाव होनेसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र भगवानके ग्यारह परीषहें उपचारसे कही जाती है। वेदनीय कर्मके उदय का सद्भाव होनेसे जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह है और घातिया कर्मोके बलकी सहायता के बिना वेदनीय कर्म अपना कुछ फल नहीं देसकता इसलिये जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह नहीं है इसप्रकार स्यादस्ति स्यान्नस्ति अर्थात् परीषहे है भी और नहीं भी हैं इस प्रकार स्याद्वाद मत प्रगट होता है। यही बात प्रदेशबंधके कथन करते समय १०० भागो मेंसे वेदनीय-

के विशेष भागों का कारण कथन करते हुये कही गई है 'जम्हा वेदणीयस्स दुःखोदयस्स णाणावरणादि उपकरणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुहदुःखोदयो दीसदे" अर्थात् सुख दुख देने वाले वेदनीयकर्मके सहायक ज्ञानावरणादि घातिया कर्म है इसलिये अर्थात् उन घातियाकर्मोंकी सहायता से ही वेदनीय कर्म का सुखदुःखोदय दिखाई पड़ता है" इससे यह सिद्ध है कि घातियाकर्मो-दयके बिना वेदनीय कर्म अपना फल नहीं दे सकता।

नरक और तिर्यचगति मे सब परिषह होती है। मनुष्यगतिमें ऊपर कहे अनुसार होती है। देवगति में घातियाकर्मों के उदयसे होनेवाली सात परीषह और वेदनीयकर्मके उदय से होने वाला क्षुधा पिपासा और वध इसप्रकार चौदह परीषह होती है। इंद्रिय और कायमार्गणामें सब परिषह होती है वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्रयोगमें देवगति की अपेक्षा देवगति के अनुसार और तिर्यंच मनुष्यों की अपेक्षा बाईस होती है। शेष योग मार्गणामें तथा वेद आदि सब मार्गणाओंमें अपने अपने गुणस्थानों की अपेक्षा लगा लेना चाहिये।

इसप्रकार परिषहो का प्रकरण पूर्ण हुआ।

आगे तपश्चरणका वर्णन करते है—रत्नत्रयको प्रगट करनेके लिये इच्छा का निरोध करना तप कहलाता है अथवा कर्मोका नाश करनेके लिये मोक्ष-मार्ग का विरोध न करते हुए तपश्चरण करना तप है वह तप दो प्रकार का है एक बाह्यतप और दूसरा आभ्यंतर तप। अनशन आदि बाह्यद्रव्यों-की अपेक्षासे अथवा अन्य लोगो को प्रत्यक्ष होनेसे बाह्य तपश्चरण कहलाता है। वह बाह्य तपश्चरण छह प्रकारका है—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरि-संख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये उसके नाम हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेदसे आभ्यं-तर तपश्चरण भी छह प्रकार का है।

किसी प्रत्यक्ष फलकी अपेक्षा न रखकर और मंत्रसाधन आदि उद्देश्यों के विना जो उपवास किया जाता है उसे अनशन कहते है। वह अनशन प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम की प्रसिद्धिके लिये रागद्वेष आदि कषायो को नाश करनेके लिये बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करने के लिये शुभ ध्यान और आगमकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। वह अनशन वा उपवास दो प्रकार का है एक नियमित समय तक और दूसरा अनियमित समय तक। दिनमें एकबार भोजन करना, एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, छह दिन, आठ दिन, दश दिन, पंद्रह दिन, एक महिने, दो महिने, छह महिने और वर्ष दिन तक अन्न पान खाद्य और स्वाद्य इन चारो प्रकारके आहारो का त्याग कर देना नियमित समय तक का उपवास कहलाता है। तथा शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित समय तक का उपवास कहलाता है।

अपने लिये स्वाभाविक जितना भोजन चाहिये उसमे चौथाई भाग कम आहार लेनेका नियम लेना अथवा एक ग्रास आधा ग्रास कम लेने का नियम लेना अवमौदर्य कहलाता है। निद्रा को जीतने के लिये दोषो को शांत करने के लिये अधिक आहार से उत्पन्न होने वाले स्वाध्याय के विघ्नों को दूर करने के लिये और उपवासो के परिश्रम से उत्पन्न होनेवाले वात पित्तके प्रकोपसे कम होने वाले संयमकी रक्षा करनेके लिये अवमौदर्य तपश्चरण किया जाता है।

अपने विशेष तपश्चरणके द्वारा अथवा शरीर का रस रुधिर मांस आदिको सुखाकर इन्द्रिय संयमको पालन करनेवाले तथा आहारके लिये गमन करते हुऐ मुनियो के एक घर मात्र घर एक गली. आधागांव दान देने वाले दाताका देख कर पात्र और भोजन आदि के विषय में संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तपश्चरण कहलाता है। यह तपश्चरण केवल भोजनकी आशा और लालसा दूर करनेके लिये किया जाता है।

शरीर इन्द्रियां और रागादि कषायो को बढानेवाले दूध, दही, घी, गुड़

तेल आदि रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है। अत्यन्त प्रबल इन्द्रियो का तेज घटानेके लिये और संयम की रुकावटे दूर करनेके लिये यह रसपरित्याग तपश्चरण किया जाता है।

ध्यान और अध्ययन मे विघ्न करने वाले स्त्री, पशु नपुंसक आदि से रहित ऐसी पर्वत की गुफाये कन्दरा, स्मशान, सूने मकान, वन उद्यान आदि एकान्त, जीवोंकी पीड़ासे रहित और आच्छन्न (ढके हुए) स्थानो में मुनियों का शयन आसन करना (सोना, बैठना) विविक्तशय्यासन तप कहलाता है। निर्बाध पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये स्वाध्याय तथा ध्यान की सिद्धि के लिये और असभ्य लोगो के दर्शन करने से अथवा उनका सहवास करने से तीनों कालों मे उत्पन्न हुए राग द्वेष और मोह को दूर करने के लिये विविक्त शय्यासन तप किया जाता है।

वृक्षके नीचे, अथवा चौहटेमे आतापन योग धारण करना, वीरासन कुक्कुटासन, पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन गोदोहनआसन, मकरमुखासन, हस्तिसुंडासन, मृतकासन, एक करवटसे सोना, दंडके समान सोना, और धनुषके समान सोना इत्यादि कार्यो के द्वारा शरीर को क्लेश पहुंचाना कायक्लेश तप कहलाता है। वर्षारितु शीतरितु और ग्रीष्मरितु मे विषम स्थल विषम आसन लगाकर बैठना तथा विषम स्थान मे सोना आदि कार्यो में शुभ ध्यान बराबर बने रहने के लिये उपस्थित हुए अनेक दुःखो को सहन करने के लिये विषय सुखो की लालसा दूर करने के लिये और प्रवचनकी प्रभावना आदिके लिये कायक्लेश तपश्चरण किया जाता है। यदि कायक्लेश तपश्चरण न किया जाय तो ध्यान के प्रारंभ मे तो सुख पूर्वक ध्यान हो सकता है परन्तु किसी उपद्रव के उपस्थित होनेपर समाधान नहीं रह सकता इसलिये कायक्लेश तपश्चरण करना ही चाहिये। इस प्रकार छह प्रकार का बाह्य तपश्चरण कहा।

अब आगे का आभ्यंतर तपश्चरण कहते है। अन्यमती लोग इस अभ्यंतर तपश्चरण का अभ्यास नहीं करते इसलिये इसको अभ्यंतर तप कहते है। अथवा प्रायश्चित आदि तपश्चरणो में किसी भी बाह्य द्रव्य की अपेक्षा

नहीं करनी पड़ती केवल अन्तःकरण में ही व्यापार करना पड़ता है इसलिये भी इसको अभ्यंतर तप कहते हैं। किसी करने योग्य कार्यके न करने पर और त्याग करने योग्य पदार्थ के त्याग न करने पर जो पाप होता है उसे अतीचार कहते हैं उस पाप को वा अतीचार को शुद्ध करना प्रायश्चित कहलाता है। प्रमाद से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये, अपने परिणामों को निर्मल रखने के लिये, शल्यों से अलग रहने के लिये, अनवस्था वा चंचलता दूर करने के लिये, मर्यादा को कायम रखने के लिये, संयम को दृढ़ रखने के लिये और चारों प्रकार की आराधनाओं के आराधन करने के लिये यह प्रायश्चित नाम का तपश्चरण किया जाता है। वह प्रायश्चित–आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है। जो (आचार्य) एकान्त स्थान में बैठे हुए हैं, जो सुने हुए दोषों को कभी किसी के सामने प्रगट नहीं करते, शास्त्रों के रहस्यों को अच्छी तरह जानते हैं और जिनका चित्त प्रसन्न है ऐसे गुरु के समीप जाकर बिद्या के योग्य उपकरण आदि को ग्रहण करने का प्रश्न वा विनय किये बिना ही देश काल को जानने वाले शिष्य का विनय पूर्वक अपना प्रमाद निवेदन करना आलोचन कहलाता है। उस आलोचन के आकंपित, अनुमापित, यद्दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित ये दश दोष हैं "यदि मैं कोई उपकरण भेंट करूंगा तो मुझे थोड़ा प्रायश्चित दिया जायेगा" यही समझ कर कुछ भेट देना पहिला आकंपित दोष है। "मेरी प्रकृति अधिक पित्तवाली है, मैं दुर्बल हूं, रोगी हूँ, उपवास आदि करनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं है यदि मुझे थोड़ा प्रायश्चित दिया जायेगा तो मैं अपना दोष निवेदन करूंगा" इस प्रकार के वचन कहना दूसरा अनुमापित दोष है। जो दोष किसी दूसरे को दिखाई नहीं पड़े हैं उन्हें तो छिपा लेना और दिखाई देने योग्य अथवा जो दूसरोने देख लिया है ऐसे दोषो को निवेदन करना, इस प्रकार का मायाचार करना तीसरा यद्दृष्ट

दोष है। आलस्य, प्रमाद व अज्ञान से छोटे छोटे अपराधों को जानने
चित्त न लगना और स्थूल दोषों को निवेदन करना चौथा बादर दोष है
बड़े भारी कठिन प्रायश्चित के भय से अथवा 'यह सूक्ष्म दोषो को भी दू
कर डालता है' इस प्रकार के अपने गुणों की प्रसिद्धि होने की इच्छा से ब
बड़े दोषो को छिपाकर थोड़ेसे प्रमाद रूप आचरणों का निवेदन करन
पांचवां सूक्ष्म दोष है। 'इस प्रकार के वृतोमे अतीचार लगनेसे मनुष्य क
क्या प्रायश्चित लेना चाहिये' इस तरह अपना दोष न कहकर उपायांतर
पूछना अथवा पूछनेके लिये गुरु की उपासना करना छठा छन्न दोष है जह
पर पाक्षिक अर्थात् पन्द्रह दिनकी चातुर्मासिक अर्थात् चार महीनेकी व
सांवत्सरिक अर्थात् एक वर्षकी आलोचना हो रही है और सब मुनियो क
आलोचना एक साथ हो रही है ऐसे शब्दो के समुदायमे पहले दोषों क
कहना सातवां शब्दाकुलित दोष है। "गुरु ने जो प्रायश्चित बतलाया है व
ठीक है या नहीं, आगममे कहा है या नहीं" इस प्रकार जब तक थोड़ा प्राय
श्चित देता रहे तब तक शंकाकर अन्य साधुओं से पूछना आठवां बहुज
दोष है। अपना कुछ भी प्रायोजन विचारकर अपने समान किसी मुनि
अपने प्रमादरूप आचरण कहना नौवां अव्यक्त दोष है इस अव्यक्त दोष
होते हुए अपने समान किसी मुनिसे वह बड़ा भारी प्रायश्चित ग्रहण कर
तो भी उसका कुछ फल नहीं होता है। किसी दूसरे मुनि को जो प्रायश्चि
दिया गया है उसे देखकर विचार करना कि "मेरे वृतो मे लगा हुआ अती
चार इन्हीं मुनिराज के अपराध के समान है अथवा मेरा अतीचार भी ठी
ऐसा ही है इसलिये जो प्रायश्चित इसको दिया गया है वही मेरे लिये ठी
है अब मुझे यह प्रायश्चित शीघ्र ही लेना चाहिये" इस प्रकार विचार क
अपने अपराधो को छिपाना दशवां तत्सेवित नामका दोष है। जो अपरा
लगा हो उसे बहुत दिन नहीं रखना चाहिये, बिना किसी मायाचारके बाल
के समान सरल बुद्धिसे दोषोंको निवेदन करते है उनके ऊपर लिखे दो

में से कोई दोष नहीं होते। दूसरी बात यह है कि यदि कोई मुनि आलोचना करेगा तो एकान्त में करेगा और गुरु तथा वह शिष्य दो ही वहां रहेंगे तीसरा नहीं परन्तु यदि आर्यिका आलोचना करेगी तो प्रकाश में करेगी एकान्त स्थान में नहीं तथा वहां पर तीन जने रहने चाहिये। यदि कोई मुनि वा अर्जिका लज्जा अथवा दूसरे के तिरस्कार के डर से अतिचार को निवेदन कर उसका प्रायश्चित न ले, दोषों को न शोधे तो जो अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब नहीं रखता ऐसे किसी कर्जदार के समान वह दुःख पाता है। जिस प्रकार श्वास रहित शरीर में प्राप्त हुई औषधि अपना फल नहीं देती उसी प्रकार आलोचना किये बिना बड़ा भारी किया हुआ तपश्चरण भी इच्छानुसार फल नहीं देता। जिस प्रकार निश्चय किये हुए मन्त्र के अनुसार न चलने वाले राजा को कोई बड़ी भारी और सदा टिकने वाली संपदा प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार आलोचना करने पर भी यदि गुरु के दिये हुए प्रायश्चित को न करे तौ उसको भी सबसे भारी और सदा टिकने वाली मोक्षरूप संपदा नहीं मिलती। आलोचना करने पर हृदयमें आया हुआ जो प्रायश्चित है वह मजे हुए दर्पणसे प्राप्त हुए रूप के समान बहुत अच्छा शोभायमान होता है। भावार्थ–प्रायश्चित करनेसे सब व्रत निर्मल शोभायमान होते हैं।

धर्मकथा आदिमें कोई विघ्नके कारण उपस्थित होजाने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगोंको भूल जाय तौ पहिले आलोचना करते हैं और फिर वे यदि संवेग वैराग्यमें तत्पर रहे, समीपमें गुरु न हो तथा छोटासा अपराध लगा हो तो "मैं फिर कभी ऐसा नही करूंगा यह मेरा पाप मिथ्या हो" इस प्रकार दोषों से अलग रहना प्रतिक्रमण कहलाता है।

कोई कर्म केवल आलोचना करनेसे ही शुद्ध हो जाते है, कोई अकेले प्रतिक्रमणसे ही शुद्ध होजाते है और दुःस्वप्न आदि कितने ही दोष तदुभय अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो के संबंध से शुद्ध होते है। प्रति-

क्रमण आलोचना पूर्वक ही होता है और गुरुकी आज्ञानुसार शिष्य स्वयं उसे करलेता है परन्तु तदुभय गुरुके द्वारा ही किया जाता है।

किसी मुनिका हृदय किसी द्रव्य क्षेत्र अन्न पान अथवा उपकरण में आशक्त हो और किसी दोषको दूर करनेके लिये गुरु उन मुनिको वह पदार्थ प्राप्त न होने दे उस पदार्थको उन मुनिसे अलग करले तो वह विवेक नामका प्रायश्चित कहलाता है। अथवा अपनी शक्तिको न छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जीवोकी बाधा दूर करते हुए भी किसी कारणसे अप्रासुक पदार्थको ग्रहण करले अथवा जिसका त्याग कर चुके है ऐसे प्रासुक पदार्थों को भी भूलकर ग्रहण करले और फिर स्मरण हो आने पर उन सबका त्याग करदे तो वह भी विवेक प्रायश्चित कहलाता है।

कोई दुःस्वप्न हो जाय, किसीका बुरा चिंतवन होजाय, मल छूट जाय, आगममें अतीचार लगजाय अथवा नदी, महावन युद्ध और अन्य किसी कारणसे अतीचार लगजाय तो ध्यान लगाकर और शरीर से ममत्व छोड़कर अन्तर्मुहूर्ततक एक दिनतक पन्द्रह दिन तक वा एक आदि महिनेतक ज्यों के त्यों खड़े रहना अथवा बैठे रहना व्युत्सर्ग कहलाता है।

जो शारीरिक वा मानसिक बल आदि गुणों से परिपूर्ण हैं और जिनसे कुछ अपराध हुआ है ऐसे मुनि उपवास, एकाशन, आचाम्ल, निर्विकृत्य (दूध-आदि रसों से रहित) आदिके द्वारा जो तपश्चरण करते है उसे तप प्रायश्चित कहते है। भय, उन्माद, शीघ्रता, भूल, अज्ञान, शक्तिहीनता और व्यसनादिके द्वारा महाव्रतोमे अतीचार लगनेपर ऊपर कहे हुए आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप ये छहो प्रकारके प्रायश्चित होते है।

जो साधु बहुत दिनके दीक्षित है, स्वाभाविक बलशाली है स्वभावसे ही शरवीर हैं और बड़े अभिमानी है परंतु जिनसे कुछ अपराध हो चुका है ऐसे मुनियोंकी एक दिनकी दीक्षा अथवा एक महीनेकी वा अधिक दिनोंकी दीक्षा कम कर देना और फिर उनकी दीक्षा कम कर देनेके बाद जितने दिनोंकी

दीक्षा कायम रहती हैं उतने ही दिनोंके दीक्षित मुनियोंके साथ रखना छेद नामक प्रायश्चित है।

पार्श्वस्थ, आदि मुनियोके लिये मूल नामका प्रायश्चित होता है वही आगे दिखलाते हैं–पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न, और मृगचारित्र ये पांच प्रकारके मुनि जिनधर्मसे बहिष्कृत होते हैं। जो मुनि वसतिकाओमें रहते हैं, उपकरणोंसे ही अपनी जीविका चलाते हैं परंतु मुनियोके समीप रहते हैं उन्हें पार्श्वस्थ कहते है। जिनका आत्मा क्रोधादि कषायोंसे कलुषित हैं जो व्रत गुण तथा शील पालन करनेसे रहित हैं और जो संघका बुरा करनेवाले हैं उनको कुशील कहते है। जो मंत्र वैद्यक वा ज्योतिषशास्त्रसे अपनी जीविका करते हैं और राजा आदिकों की सेवा करते हैं उन्हें संसक्त कहते हैं। जो जिनवचनोको जानते तक नहीं जिन्होने चारित्रका भार सब छोड़ दिया है, जो ज्ञान और चारित्र दोनोसे भृष्ट हैं और चारित्रके पालन करनेमे आलस करते हैं उन्हे अवसन्न कहते है। जिन्होने गुरुका संघ छोड़ दिया है जो अकेले ही स्वच्छंद रीतिसे विहार करते है और जो जिनेंद्र देवके वचनों को दूषित करनेवाले हैं उनको मृगचारित्र अथवा स्वच्छंद कहते हैं ये पांचों ही मुनि जिनधर्मसे बाह्य है। ये ऊपर कहे हुए पांचो प्रकारके पार्श्वस्थ आदि मुनि मिथ्यामार्ग मे रहते है और अपरिमित अपराध करते हैं इसलिये उनकी मुनि अवस्थाकी सब पर्यायका त्याग कर अर्थात् उनकी समस्त दीक्षाका छेदकर फिरसे दीक्षा देना मूल नामका प्रायश्चित कहलाता है।

परिहारनामक प्रायश्चित–अनुपस्थान और पारंचिक भेदसे दो प्रकारका है। उसमे अनुपस्थान भी निजगण और परगणके भेदसे दो प्रकारका है। प्रमादसे अन्य मुनि संबंधी ऋषि, विद्यार्थी, गृहस्थ वा दूसरे पाखंडीके द्वारा रोके हुए चेतनात्मक वा अचेतनात्मक द्रव्य अथवा परस्त्री आदि को चुरानेवाले, मुनियो को मारनेवाले अथवा और भी ऐसे ही ऐसे विरुद्ध आचरण करनेवाले परंतु नौ वा दशपूर्वोके जानकर, पहिले तीन संहननो के धारण

करनेवाले परीषहों को जीतनेवाले, धर्ममें दृढ रहने वाले धीर वीर और संसारसे डरनेवाले मुनियो के निजगणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित होता है। जिनको यह प्रायश्चित दिया जाता है वे मुनियो के आश्रमसे बत्तीस दंडके अंतरसे बैठते है, बालक मुनियो को (कम उम्रके अथवा थोड़े दिनके दीक्षित मुनियों को) भी वे वंदना करते है परंतु बदलेमे कोई मुनि उन्हें वंदना नहीं करता वे गुरुके (आचार्यके) साथ सदा आलोचना करते रहते है, शेषलोगों के साथ वे बात चीत नहीं करते, मौनव्रत धारण किये रहते है, अपनी पीछीको उलटी रखते है, कमसे कम पांच पांच उपवास और अधिक से अधिक छह छह महीने तकके उपवास करते रहते हैं और इस प्रकार दोनों प्रकारके उपवास बारह वर्ष तक करते है यह निजगणानुपस्थापन प्रायश्चित है। जो अभिमानसे ऊपर लिखे दोषोको करते है उनके परगणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित होता है। उसकी क्रिया यह है कि अपने संघके आचार्य ऐसे अपराधीको दूसरे संघके आचार्यके समीप भेजते है, वे दूसरे संघके आचार्य भी उनकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित दिये बिना ही किसी तीसरे संघके आचार्यके समीप भेजते हैं इसीप्रकार सातसंघों के आचार्योंके समीप उन्हे भेजते है अंतके अर्थात् सातवें संघके आचार्य उन्हे पहिले आलोचना सुननेवाले आचार्यके समीप भेजते है तब वे पहिले ही आचार्य उन्हे ऊपर लिखा हुआ (निजगणानुपस्थापनमे लिखा हुआ) प्रायश्चित देते है इसप्रकार निजगणानुपस्थापन और परगणानुपस्थापन ये दोनो ही परिहारके भेद कहे। अब पारंचिक नामके परिहारको कहते है। जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, शास्त्र और संघ आदिकी झूठी निंदा करनेवाले हैं, राज्यविरुद्ध आचरण करते है, जिन्होने किसी राजाको अभिमत अथवा किसी राजाको प्रिय ऐसे मंत्री आदिको दीक्षा दी है जिन्होने राजकुलकी स्त्रियो का सेवन किया है अथवा ऐसे अन्य दोषो के द्वारा जिन्होने धर्ममें दोष लगाया है ऐसे मुनियों के पारंचिक प्रायश्चित होता है। उसकी क्रिया यह है कि

आचार्य पहिले चारों प्रकारके मुनियोंके संघको इकट्ठा करते है और फिर उस अपराधी मुनिको बुलाकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महा पापी है अपने मतसे बाह्य है इसलिये वंदना करनेके आयोग्य है इसप्रकार घोषणा कर तथा अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त देकर उसे देशसे निकाल देते हैं।

जिन्होंने अपना मिथ्यात्व छोड़ दिया है, महाव्रत धारण कर लिये हैं और आप्त आगम पदार्थोका श्रद्धान कर लिया है उनके श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त कहा जाता है। इसप्रकार दश प्रकारका प्रायश्चित्त कहा। देश, काल, शक्ति और संयममें किसी तरहका विरोध न आने पावे और छोटा बड़ा जैसा अपराध हो उसके अनुसार वैद्यके समान दोषोंका शमन करना चाहिये। प्रत्येक जीवके परिणामोंके भेदोंकी संख्या असंख्यातलोक मात्र है, और अपराधोंकी संख्या भी उतनी ही है परन्तु प्रायश्चित्तके उतने भेद नहीं कहे हैं। प्रायश्चित्तके ऊपर लिखे भेद तो केवल व्यवहार नयकी अपेक्षासे समुदायरूपसे कहे गये हैं।

कषाय और इंद्रियोंको नम्र करना विनय है अथवा रत्नत्रय और रत्नत्रयको धारण करनेवाले के प्रति अपनी नम्र वृत्ति रखना उनके साथ उद्धतपना न करना, नम्रतासे रहना विनय है। वह विनय चार प्रकार है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय। जो आलस रहित है जिसका मन शुद्ध है और जो देश काल आदिकी विशुद्धिके भेद प्रभेद जानने मे चतुर है ऐसा पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार आदर सत्कार पूर्वक मोक्षके लिये ज्ञानका ग्रहण करना अभ्यास करना स्मरण करना आदि रीतिसे ज्ञान की सेवा करता है उसे ज्ञान विनय कहते हैं। सामायिकसे लेकर लोकविंदुसार पर्यंत श्रुतज्ञानरूपी महासागरमे भगवान जिनेंद्र देवने जो पदार्थो का स्वरूप कहा है उनका उसी प्रकार श्रद्धान करना, तथा निःशंकित आदि आठों अंगोंका पालन करना दर्शन विनय है। जो ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्य इन पांचों आचारोका पालन करते है बड़े-बड़े कठिन चारित्रको

सुनकर भी रोमांच प्रगट हो जाने से जिनके अंतरंगकी भक्ति बाहर प्रगट हो रही है और प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर भावना करते है ऐसे मुनि जो चारित्रका पालन करते है उसे चारित्र विनय कहते है। उपचार विनय दो प्रकारका है एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। आचार्य उपाध्याय, वृद्ध साधु, उपदेशादि देकर जिनमतकी प्रवृत्ति करनेवाले गणधरादिक तथा और भी पूज्य पुरुषोके आनेपर खड़े होना, उनके सामने जाना, हाथ जोड़ना बंदना करना, चलते समय उनके पीछे-पीछे चलना, रत्नत्रयका सबसे अधिक आदर सत्कार करना, समस्त कालके योग्य अनुरूप क्रियाके अनुकूल चलना मन वचन काय तीनो योगोंका निग्रह करना, सुशीलता धारणकरना, धर्मानुकूल कहना सुनना तथा भक्ति रखना, अरहंत जिनमन्दिर और गुरुमे भक्ति रखना, दोषोका वा दोषियोका त्याग करना, गुणोसे बढ़े हुए मुनियों की सेवा करनेकी अभिलाषा रखना, उनके अनुकूल चलना और उनकी पूजा करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है। कहा भी है—"वृद्ध मुनियोंके साथ अथवा गुरुके साथ कभी भी प्रतिकूल न होनेकी सदा भावना रखना, बराबरवालो के साथ कभी अभिमान न करना, हीन लोगोका कभी तिरस्कार न करना, जाति, कुल, धन, ऐश्वर्य, रूप, विज्ञान, बल, लाभ और ऋद्धियोमे कभी अभिमान न करना, सब जगह क्षमा धारण करनेमे तत्पर रहना, थोड़े, हितरूप और देशकालके अनुसार वचन कहना, कार्य अकार्य, सेव्य असेव्य, (सेवन और न सेवनकरने योग्य) तथा कहने और न कहने योग्यका ज्ञान होना इत्यादि क्रियाओके द्वारा अपने आत्माको प्रवृत्त करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है अब आगे परोक्षउपचार विनयको कहते है। आचार्य आदिके परोक्ष रहते हुएभी मन वचन कायसे उनके लिए हाथजोड़ना उनके गुणोका वर्णन करना, स्मरण करना और उनकी आज्ञा पालन करना आदि परोक्षोपचार विनय है। रागपूर्वक वा हंसी पूर्वक अथवा भूलकर भी कभी किसीकी पीठ का मांस भक्षण नहीं करना चाहिए अर्थात् पीछे कभी किसीकी बुराई वा निंदा नहीं करनी चाहिए। यह सब परोक्षोपचार विनय कहलाता है। जिन

के हृदयमें मन्त्र औषधि उपकरण यश सत्कार और लाभ आदिकी अपेक्षा नहीं है जिनकी बुद्धि वास्तवमें निस्पृह है, जिनके इस लोक सम्बंधी फलकी इच्छा बिल्कुल नहीं है और जो केवल कर्मोंको नाश करनेकी इच्छा रखते हैं उन्हें ज्ञानका लाभ होनेकेलिए, आचरणोंकी विशुद्धता होनेके लिए और आराधनाओंका अच्छी तरह आराधन करनेके लिए तथा ऐसे ही ऐसे और भी श्रेष्ठकार्योंके लिए विनय करनेकी भावना रखनी चाहिए। इस विनय को धारण करनेसे मोक्ष का द्वार खुला रहता है।

अब आगे वैयावृत्यको कहते है। शरीरकी पीड़ा अथवा दुष्ट परिणामों को दूर करनेकेलिये शरीरकी चेष्टासे किसी अन्य द्रव्यसे, अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना अथवा कोई भी क्रिया करना वैयावृत्य है। वह वैयावृत्य आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ के सेवा चाकरी के भेदसे दश प्रकारका होता है। भव्य पुरुष अपने आत्माका कल्याण करनेकेलिये सम्यग्ज्ञान आदि पंचाचारोंके आधाररूप जिन आचार्यों से स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाले कल्पवृक्षके बीजरूप वृतोंको लेकर आचरण करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। वृत शील और भावनाके आधाररूप जिन मुनिसे श्रुतज्ञान रूपी आगमका अध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। आचाम्लवर्द्धन, सर्वतोभद्र, सिंहनिष्क्रीडित, शातकुंभ, मंदरपंक्ति, विमान-पंक्ति, नंदीश्वरपंक्ति, जिनगुणसंपत्ति, श्रुतज्ञान, कनकावली, मुक्तावली, मृदंगमध्य, वज्रमध्य; कर्मक्षपण और त्रैलोक्यसार आदि महाउपवास करने वाले तपस्वी कहलाते है। जो श्रुतज्ञानकी शिक्षा प्राप्त करनेमें तत्पर हैं, और वृत भावनाओंके पालन करनेमे निपुण है उन्हे शैक्ष कहते है। रोगादि के द्वारा जिनका शरीर क्लेशित है उन्हे ग्लान कहते है। वृद्ध मुनियोंके समुदायको गण कहते है। दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्योंकी परंपराको कुल कहते है। ऋषिमुनि यति अनगार इनचारो प्रकारके मुनियोंके समुदाय को संघ कहते है। जो वहुत दिनके दीक्षितहो उन्हे साधु कहते है। जो सुंदर हो उन्हे मनोज्ञ कहते है अथवा जो आचार्यको मान्य हो अथवा दीक्षा लेनेके

सन्मुख हों उसे मनोज्ञ कहते हैं अथवा जो विद्वान हो, वक्ता हो, महाकुलीन हो इसप्रकार लोकमें जो मान्य हो उसे मनोज्ञ कहते है। मनोज्ञ ग्रहण करने का यह भी अभिप्राय है कि संसारमें जो अपने मतका गौरव उत्पन्न करनेका कारण हो ऐसा असंयत सम्यग्दृष्टिभी मनोज्ञ कहलाता है। अथवा जो संवेगादिक संस्कार सहित हैं। उन्हे भी मनोज्ञ कहते हैं। ऊपर लिखे हुए आचार्य आदिके व्याधि परिषह आजानेपर अथवा मिथ्यात्वका सम्बन्ध हो जानेपर बिना किसी प्रत्युपकार की इच्छाके प्रासुक औषध, भोजन, पान, आश्रय, आसन, काष्ठासन बिछोना आदि धर्मोपकरणोके द्वारा उस व्याधि वा परिषह को दूर करना मिथ्यात्वको दूर करना, सम्यग्दर्शन स्थापन करना आदि वैय्यावृत्य कहलाता है। यदि औषध, भोजन, पान आदि बाह्य सामग्रियोंका मिलना असंभव हो तो अपने शरीरके द्वारा कफ नाकका मल तथा अंतर्मल आदिको दूर करना और उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना यावृत्य कहलाता है। समाधि, ध्यान, विचिकित्सा (ग्लानि) का अभाव सार्धमियोंके साथ प्रेमभाव और सबको सनाथ बनाये रखनेके लिये वैयावृत्य किया जाता है।

अब आगे स्वाध्याय को कहते हैं। अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। वह स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे पांच प्रकारका होता है। जिसकी आत्मामें किसी तरहकी अपेक्षा नहीं है, जो केवल मोक्षकी इच्छा रखता है और जानने योग्य सब विषय जिसे मालुम है ऐसे किसी मनुष्य वा मुनिके द्वारा किसी योग्य पात्रके लिए निर्दोष ग्रंथ अथवा अर्थ अथवा ग्रंथ (पाठ) अर्थ दोनों ही प्रतिपादन करना वाचना है अपने आत्माकी उन्नति प्रकाशित करनेके लिए अथवा अन्य किसीको समझानेके लिए उपहास, संघर्ष, प्रहसन आदिको (हंसी मजाक आदिको) छोड़कर संशय दूर करनेके लिए अथवा स्वयं पदार्थका स्वरूप निश्चय करनेकेलिए कोई ग्रंथ (पाठ) अर्थ अथवा ग्रंथ अर्थ दोनों ही किसी दूसरोंसे पूछना पृच्छना कहलाती है। जिन्हें पदार्थोकी प्रक्रियाएं सब मालूम है और तपाये हुए लोहेके गोलेके समान जिनका चित्त

उन्हीं पदार्थोंमें लगा हुआ है ऐसे मुनि जो उन पदार्थोंको अपने मनमें बार बार चिंतवन करते हैं उसको अनुप्रेक्षा कहते हैं। व्रती सब समाचारोंको (श्रेष्ठ आचरणोंको) जानने वाले और इसलोक संबंधी फलकी अपेक्षा से रहित मुनिका शीघ्रता वा धीरताके कारण पद वा अक्षरोंका छूट जाना आदि घोकनेके दोषोंसे रहित शुद्ध पाठका बार बार बांचना वा घोकना आवृत्ति करना आम्नाय कहलाता है। किसी प्रत्यक्ष प्रयोजनका त्यागकर मिथ्या मार्गको दूर करनेके लिए किसी संदेह को दूर करने के लिए अथवा अपूर्व पदार्थोंको प्रकाशित करनेकेलिए धर्मकथा आदिका कहना उपदेश देना धर्मोपदेश है। यह स्वाध्याय, बुद्धिको बढ़ाना, श्रेष्ठज्ञान प्राप्त करना, शास्त्रज्ञानको स्थिर रखना, संशयोंको दूर करना, परवादियोंकी शंकाका निरास करना, जिनमतकी प्रभावना करना, परम वैराग्य धारण करना, तपकी वृद्धि करना, अतीचारोंकी विशुद्धि करना, कषाय तथा इंद्रियोंको जीतना, और परम मोक्षका उपाय करना आदि कार्योंके लिए सदा करते रहना चाहिये।

अब आगे कायोत्सर्ग कहते हैं। अनेक तरहके बाह्य तथा अभ्यंतर बंधके कारणरूप दोषोंका उत्तम रीतिसे त्याग करना व्युत्सर्ग है। जिसे आत्मा स्वयं ग्रहण नहीं करता और न जो आत्माके साथ मिलकर एकरूप होता है ऐसे आहार आदिका त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है। क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व हास्य रति अरति शोक और भय आदि दोषोंको दूर करना अभ्यंतरोपधिव्युत्सर्ग है। शरीरका त्याग करनाभी आभ्यंतरोपधिव्युत्सर्ग है। वह दो प्रकारका है एक जीवनपर्यंत तक और दूसरा किसी नियतसमयतक। इसमें भी जीवनपर्यंत तकका आभ्यंतरोपधिव्युत्सर्ग—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमनके भेदसे तीन प्रकारका है। उसमें भी भक्तप्रत्याख्यानका जघन्यसमय अंतर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट बारह वर्ष है और अवांतरके भेदरूपसमय सब मध्यम हैं। स्वपर दोनों प्रकारके उपकारकी अपेक्षा रख कर जो मरण किया जाता है वह भक्तप्रत्याख्यानमरण है। जिसमें दूसरेके

प्रतिकारकी अपेक्षा न रखकर केवल आत्माके उपकारकी अपेक्षा हो उसे इंगिनीमरण कहते हैं। जिसमे दोनों प्रकारके उपकारकी अपेक्षा न हो उसे प्रायोपगमन कहते हैं। नियतकाल भी नित्य नैमित्तिकके भेदसे दो प्रकार का है। आवश्यक आदि क्रियाओंका करना नित्य है, तथा पर्वके दिनोमे होने वाली क्रियाएं करना वा निषद्या क्रिया आदि करना नैमित्तिक है। क्रियाओं के करने पर भी वंदना और कायोत्सर्गके बत्तीस २ दोष होते है। उनमेसे वंदनाके अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट परपीडित, डोलायित, उन्मस्तक, कच्छप-रंगित, मत्स्योद्वर्तन, मनोदुष्ट, वेदिका बंध, भेष्यत्व, भीषित, ऋद्धिगौरव, शेषगौरव स्तेनित, प्रत्यनीक, क्रोधादिशल्य, तर्जित, शब्दित, हेडित, त्रिव-लित, कुंचित- आचार्यादिदर्शन, अदृष्ट, संज्ञकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, अधिक, मूक, घर्घर और चुरुलित ऐसे बत्तीसदोष होते हैं। इसीप्रकार जिसमे दोनों भुजाएं लंबी छोड़ दी गई है, चार अंगुलके अंतरसे दोनों पैर एकसे रक्खे हुए हैं और शरीरके अंग उपांग सब स्थिर है ऐसे कायोत्सर्गके भी बत्तीस दोष होते है। उनके नाम ये हैं—घोटकपाद, लतावक्र, स्तंभाव-ष्टभ; कुडयाश्रित, मालिकोद्वहन, शवरागुह्य, गूह्यन, श्रृंखलित लवित, उत्तरित, स्तनदृष्टि, काकालोकन, खलीनित, युगकंधर, कपित्थमुष्टि, शीर्ष-प्रकंपित, मूकसंज्ञा, अंगुलिचालन, भ्रूक्षेप, उन्मत्त, पिशाच, पूर्वदिशावलोकन आग्नेयदिशावलोकन, दक्षिणदिशावलोकन, नैऋत्यदिशावलोकन, पश्चिम-दिशावलोकन, वायव्यदिशावलोकन, उत्तर दिशावलोकन, ईशानदिशावलो-कन, ग्रीवोन्नमन, ग्रीवावनमन, निष्ठीवन और अंगस्पर्शन। क्रिया करतेसमय अपनी शक्तिको कभी नहीं छिपाना चाहिये, अपनी शक्तिके अनुसार खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये। यदि खड़े होनेकी सामर्थ्य न हो तो पर्य-कासनसे बैठकरकरना चाहिये। मन वचन काय तीनोकी शुद्धतापूर्वक दोनों हाथोंका संपुट बांधकर करने योग्य क्रियाओकी प्रतिज्ञाकर सामायिक दंडक का उच्चारण करना चाहिये। उससमय तीन आवर्त, यथाजात अवस्था धारणकर एकशिरोनति करना चाहिये। इसीप्रकार सामायिकदंडकके समाप्त

होनेपरभी सब क्रियाएं करनी चाहिये इसतरह शास्त्रोंमें लिखे हुए समयतक भगवान जिनेंद्रदेवके गुणोंका स्मरण करते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिये। इसीप्रकार दूसरे दंडकके प्रारम्भ और अंतमें करना चाहिये। इसप्रकार एक एक कायोत्सर्गके बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं अथवा एक एक प्रदक्षिणासे (दिशा बदलते समय) उसदिशासंबंधी चैत्य चैत्यालयके सन्मुखतीन आवर्त और एक शिरोनतिकरनी चाहिये। इसप्रकार चारों दिशाओंमे बारह आवर्त और चार शिरोनति करनी चाहिये। आवर्त और शिरोनतिका जो प्रमाण ऊपर लिखा है उससे अधिक करना कुछ दोष नहीं गिना जाता। लिखा भी है--दुउपादं इत्यादि।

अर्थात्--दो आसनोंसे यथाजात अवस्था धारणकर बारह आवर्त चार शिरोनति और मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक कालका नियमकर प्रभुकी बंदना करनी चाहिये।

अब आगे करनेवाली क्रियाओंके समयका नियम बतलाते हैं--दिनमें होनेवाले नियमका एकसौ आठ उच्छ्वास, रात्रिमे होनेवाले नियमका उससे आधा अर्थात् चौउन उच्छ्वास, पाक्षिकनियमका तीनसौ उच्छ्वास, और चातुर्मासिक (चौमासेके) नियमका चारसौ उच्छ्वास और वार्षिक नियमका पांचसौ उच्छ्वास इसप्रकार पांचों नियमोंमे कायोत्सर्गका यह प्रमाण है। अहिंसा आदि पांचो नियमों मेसे किसी एकने अतिचार लगनेपर प्रत्येकके एकसौ आठ उच्छ्वासका, गोचार अर्थात् आहारकेलिये गमनकरने एक गांवसे दूसरे गांवतक जाने अरहंत देवके पंचकल्याणक अथवा समवसरण आदि क्षेत्रोंकी वंदनाकेलिये तथा साधुओंके समाधिस्थानकी वंदनाकेलिये जानेके मलमूत्र करने आदि कार्योंमे पच्चीस उच्छ्वास कायोत्सर्गका प्रमाण है, ग्रंथके प्रारंभ और समाप्तिमे स्वाध्याय, वंदना, और प्रणिधान करते समय सत्ताइस उच्छ्वास, कायोत्सर्ग करना चाहिये। इसप्रकार ऊपर कहे हुए उच्छ्वासके प्रमाणसे कायोत्सर्ग कर विना किसी उत्सुकताके थोड़ी देरतक

धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान करने चाहिये। नाम स्थापना द्रव्य भावकी समीपता पुण्य पापका कारण है इसलिये जिनप्रतिमा चैत्यालय गुरु और साधुओके समाधिस्थान आदि ही सम्यग्दृष्टियोंको क्रिया करने योग्य होते है जिसप्रकार दान देनेकी बुद्धिसे रहित और अचेतन ऐसे कल्पवृक्ष तथा चिंता मणि रत्न अपने अपने पुण्य कर्मोके अनुसार प्राणियोंको इच्छानुसार पदार्थ देते है उसीप्रकार जिनबिंब भी भव्य लोगोंकी भक्तिके अनुसार स्वर्ग और मोक्षपद देते हैं जिसप्रकार गरुड़मुद्रासे विष दूर हो जाता है उसीप्रकार जिन बिंबके दर्शन करनेमात्रसे पापोका नाश हो जाता है। इसलिये जिनबिंबकी बंदना करनी चाहिये और जिनबिंबके आश्रय होनेसे चैत्यालयकी भी वंदना करनी चाहिये। आचार्य आदि गुरुलोक संसार संबंधीकिसी कार्यकी अपेक्षा नहीं रखते उनकी बुद्धि सदा दूसरोके अनुग्रह करनेमें ही लगी रहती है, वे विनाही कारणके सबके बन्धु है, मोक्ष मार्गसे भ्रष्ट हुए लोगोंको मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले है और संसारसे प्रत्यक्ष पार कर देने वाले है इसीलिये ऐसे गुरुजनोंसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञानका अभ्यास, अणुव्रत महाव्रत संयम और तप प्राप्त होता है अतएव पुण्यपुरुषोंके द्वारा सेवन करने योग्य तथा निर्दोष ऐसे गुरु जनोंके निषद्या स्थान आदिकोंकी क्रियाओंका विधान कहते है। जो पराधीन होकर क्रियाएं करता है उसके कर्मोका नाश कभी नहीं होता इस लिये केवल आत्माके आधीन होकर जिनबिंब आदिकोंकी प्रति वंदनाके लिये जाना चाहिये। पैर धोकर तीन प्रदक्षिणा देकर ईर्यापथ कायोत्सर्ग करना चाहिये, और फिर बैठकर आलोचना करनी चाहिये। तदनंतर "मैं चैत्यभक्ति कायोत्सर्ग करता हूं" इसप्रकार प्रतिज्ञाकर तथा खड़े होकर श्री जिनेंद्रदेव रूपी चंद्रमाके दर्शन करने मात्रसे अपने नेत्ररूपी चंद्रकांतमणिसे निकलते हुए आनंदाश्रु के जलधाराके पूरसे जिसके नेत्रोके दोनों पलक भीग गये है, अनादि संसारमे दुर्लभ ऐसे भगवान अरहंत परमेश्वर परम भट्टारक के प्रतिबिंबकेदर्शन करनेसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट हर्षसे जिसका शरीर पुलकित हो गया है, तथा अत्यंत भक्तिके भारसे नम्रीभूत मस्तक पर जिसने अपने

दोनों हाथरूपी कमलोंका कुड्मल (जुडे हुए हाथ) रख लिया है ऐसे उस कायोत्सर्ग करनेवालेको दोनों दंडकोंके आदि अंतमे पहिले कहे हुए क्रमसे सब क्रियाएं करनी चाहिये, अर्थात् तीन तीन आवर्त और एकएक शिरोनति करनी चाहिये। फिर जिनबिंबकी स्तुति करनी चाहिये। दूसरी बारभी बैठकर आलोचना करनी चाहिये तथा "मैं पंच गुरुभक्ति कायोत्सर्ग करता हूं" ऐसी प्रतिज्ञाकर खड़े होकर पांचों परमेष्ठियोंकी स्तुति करनी चाहिये। तीसरी बार भी बैठकर आलोचना करनी चाहिये। इसप्रकार आत्माकी स्वाधीनता, तीन प्रदक्षिणा करना, तीनबार बैठनातीन शुद्धि चार शिरोनति और बारह आवर्त इसप्रकार छहतरहका क्रियाकर्म कहलाता है। उसमें भी चार शिरोनति दोनों दंडकोंके आदि अंतमें, प्रणाम करते समय प्रदक्षिणा करते समय और चारों दिशाओंमें नमस्कार करते समय इसतरह चारचार करनी चाहिये। अथवा शिर शब्दका 'प्रधान' अर्थ है अरहंत सिद्ध साधु और धर्म बंदनाके योग्य ये चार ही प्रधान हैं। इन छह कर्मोंके लिये राद्धांतसूत्रमें (सिद्धांतसूत्र)भी लिखा है "आदाहीणं पदाहीणं तिखुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं वारसावत्तं चेति" अर्थात् आत्माकी स्वाधीनता (पदाहीणं) प्रद-क्षिणाकरना, (त्रिखुत्तं) त्रिबारशुद्धि (तिऊणदं) तीनवार निषद्या वा बैठना, (चदुस्सिरं) चार शिरोनति (वारसावत्तं) बारह आवर्त ये छह कर्म हैं इस प्रकार देवताकी स्तवन क्रिया करते समय चैत्य भक्ति और पंच गुरु भक्ति करनी चाहिये।

चतुर्दशीके दिन (चैत्यभक्ति और पंच गुरु भक्तिके मध्यमे) सिद्धभक्ति, श्रुत तथा शांति भक्ति करनी चाहिये। अष्टमीके दिन सिद्धभक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। पाक्षिक कायोत्सर्गमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये। सिद्धप्रतिमाकी वंदना करते समय सिद्ध भक्ति ही होती है। जिनप्रतिमाकी और तीर्थंकरों के जन्मके दिन पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये अर्थात् सिद्धभक्ति चारित्र

और शांतिभक्ति करनी चाहिये। अष्टमी आदिकी क्रियाओमे दर्शन पूजा करनी चाहिये, तीनों कालोकी बंदना करनेके समय शांतिभक्तिसे पहिले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये। चतुर्दशीकेदिन धर्मक्रियाओके व्यासंगसे यदि कोई क्रिया न कर सके तो उसे पाक्षिक कायोत्सर्गके समय अष्टमीके दिनकी क्रियाकरनी चाहिये। नंदीश्वर पर्वोके दिनोमे सिद्धभक्ति नंदीश्वरभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। अभिषेक बंदनाकेसमय सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। स्थिर और चल दोनो ही प्रकारकी जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठाकेसमय सिद्धभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये। स्थिर प्रतिमाके चतुर्थस्थानमे सिद्धभक्ति, आलोचना सहित चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। चलप्रतिमाकी अभिषेक बंदना होती है, बड़े भारी ऋषि तथा सामान्य ऋषियोंकी सिद्धभक्ति पूर्वक बंदनाकी जाती है। सिद्धांतके जानकार मुनियोकी सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति की जाती है। आचार्योकीसिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति की जाती है। सिद्धांतके जानकार आचार्योकी सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति की जाती है। प्रतिमा-योग धारण करनेवाले मुनि चाहे छोटे भी हो तो भी उनकी सिद्धभक्ति योगभक्तितथा शांतिभक्तिकी जाती है। दीक्षाकल्याणकके समय सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति, योगभक्ति तथा शांतिभक्तिकी जाती है और उससमय योग भक्तिके पाठ पूर्वक प्रदक्षिणा दी जाती है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेके समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्तिकी जाती है और योगभक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा दी जाती है। तीर्थंकरके निर्वाणक्षेत्रमे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति परिनिर्वाणभक्ति और शांति भक्ति करना चाहिये तथा निर्वाणभक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा देनी चाहिये। श्रीवर्द्धमान जिनेंद्रदेवके निर्वाण होनेकेदिन सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंच-गुरुभक्ति और शांतिभक्तिकी जाती है तथा निर्वाणभक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा दी

जाती है। सामान्य ऋषिके स्वर्गवासके समय सिद्धभक्ति योगभक्ति शांति-भक्ति की जाती है तथा उनके शरीरकी वा निषद्यास्थानकी सिद्धभक्ति, योगभक्ति,शांतिभक्तिकी जाती है। सिद्धांतवेत्तामुनियोंके स्वर्गवासके समय, उनके शरीर की तथा निषद्यास्थानकी सिद्धभक्ति श्रुत योग शांतिभक्तिकी जातीहै। उत्तर योगियोंके स्वर्गवासकेसमय उनके शरीरकीतथा निषद्यास्थान की सिद्ध, चारित्र योग शांतिभक्ति की जाती है। सैद्धांतोत्तर योगियों के स्वर्गवासके समय उनके शरीरकी तथा निषद्यास्थानकी सिद्ध चारित्र योग शांतिभक्तिकी जाती है। आचार्यके स्वर्गवासके समय उनके शरीरकी तथा निषद्यास्थानकी सिद्ध योग आचार्य शांतिभक्तिकी जाती है। सैद्धांताचार्यके स्वर्गवासके समय उनके शरीरकी तथा निषद्यास्थानकी सिद्ध, श्रुत, योग आचार्य, शांतिभक्तिकी जाती है। उत्तरयोगी आचार्योंके स्वर्गवासके समय उनके शरीरकी तथा निषद्यास्थानकी सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगभक्ति आचार्य और शांतिभक्ति की जाती है। उत्तरयोगी सिद्धांताचार्यके स्वर्ग-वासके समय उनके शरीरकी तथा निषद्यास्थानकी सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति की जाती है। (ऊपर कही हुई आठो क्रियाएं शरीर और निषद्यास्थानकीभी होती है जैसी कि ऊपर दिख-लाई जा चुकी हैं) श्रुतपंचमीके दिन सिद्धभक्ति तथा श्रुतभक्ति पूर्वक वाचना नामका स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिये, उसके बाद स्वाध्याय कर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिये फिर स्वाध्याय ग्रहणकर श्रुत भक्तिकर स्वाध्यायको पूर्णकर समाप्तिकेसमय शांतिभक्ति करनी चाहिये।

संन्यासके प्रारंभके समय सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति कर वाचना ग्रहणकर फिर श्रुतभक्ति तथा आचार्यभक्ति कर स्वाध्याय ग्रहणकर श्रुतभक्तिसे स्वाध्याय पूर्णकर देना चाहिये वाचना करनेके समय भी यही क्रियाकर समाप्तिके समय शांतिभक्ति करनी चाहिये। संन्यासमे स्थित होकर स्वा-ध्याय ग्रहण करते समय महाश्रुतभक्ति तथा महाआचार्यभक्ति कर फिर

स्वाध्याय ग्रहणकर महाश्रुतभक्तिमें ही स्वाध्याय करना चाहिये। दैवसिक (दिनके) प्रतिक्रमणमे रात्रिके प्रतिक्रमणमे, गोचरी प्रतिक्रमणमे नियमसे सिद्धप्रतिक्रमण निष्ठित चारित्रभक्ति और चतुर्विशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिये। योग ग्रहण करते समय और समाप्तिके समय योगभक्तिकी जाती है। पाक्षिकप्रतिक्रमण चातुर्मासिकप्रतिक्रमण और सांवत्सरिकप्रतिक्रमणमे सिद्धप्रतिक्रमण, तथा चारित्रप्रतिक्रमणके साथ साथ चारित्रभक्ति, चतुर्विशति तीर्थंकरभक्ति चारित्र आलोचना गुरुभक्ति बड़ी आलोचना गुरु भक्ति और फिर छोटी आचार्यभक्ति करनी चाहिये बाकीके प्रतिक्रमणोंमे चारित्रआलोचना बड़ी आलोचना और गुरुभक्ति बिनासब भक्तियां करनी चाहिये दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोच करते समय सिद्ध और योग भक्ति करके केशलोचके अंतमे सिद्धभक्ति करनी चाहिये। फिर सिद्ध तथा योगभक्ति करके प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये तदनंतर आचार्यभक्ति करके आचार्य वंदना करनी चाहिये और फिर सिद्धभक्तिकरके प्रत्याख्यान कोछोड़देना चाहिये। फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय ग्रहणकर उस स्वाध्यायके पूर्ण करतेसमय श्रुतभक्तिकरनी चाहिये मंगलके विषयभूत मध्यान्हकेसमय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति पंचगुरु और शांतिभक्ति करनी चाहिये। मंगलके विषय भूत मध्यान्ह कालके प्रत्याख्यानके समय महासिद्ध तथा योगभक्ति करके प्रत्याख्यान ग्रहणकरना चाहिये और फिर आचार्यभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये। वर्षाऋतुमे योग ग्रहण करते समय और निष्ठापन ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति, पंच चैत्य, गुरुभक्तिकरनी चाहिये फिर चैत्यभक्तिके साथ प्रदक्षिणादेकर चारों दिशाओंमे आलोचना पूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिये। सिद्धांतग्रंथोंके वाचने के समय सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति करनी चाहिये और फिर श्रुतभक्ति आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय करना चाहिये और उसके निष्ठापनके समय श्रुतभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये सिद्धांत ग्रंथोके अर्थाधिकार

समाप्त होनेके समय एक एक कायोत्सर्ग करना चाहिये सिद्धांत ग्रंथोंके अर्थाधिकार सबसे अधिकमान्य है इसलिये उनके प्रारंभमे सिद्ध, श्रुत और आचार्यभक्ति करनी चाहिये। तथा समाप्त होनेके समयभी ये ही क्रियायें कर अंतमे छह कायोत्सर्ग करने चाहिये जो ज्ञान वैराग्य विज्ञान सहित है विनीत हैं धर्मशील है और आचार्यपदके योग्य हैं उसे स्थिर होकर साधु तथा गुरुके समक्ष सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करके आचार्यपदवी ग्रहण करनी चाहिये और फिर शांतिभक्ति करनी चाहिये इसप्रकार जो क्रियाएं उपर कहीं हैं वे अपनी योग्यताके अनुसार उत्तम मध्यम जघन्य श्रवकोंको तथा मुनियोंको करनी चाहिये। यह कायोत्सर्ग परिग्रहोंका त्याग करनेके लिये, निर्भय रहनेके लिये, जीवित रहनेकी आशाका त्याग करनेके लिये, दोषोंका नाश करनेके लिये और मोक्ष मार्गकी भावनामे तत्पर रहनेके लिये करना चाहिये।

अब आगे ध्यानका प्रकरण लिखते हैं—एकाग्रचिन्ताका निरोध करना ध्यान हैं। जो चिंतवन किसी एक ही क्रियाके साधन करनेमे मुख्य हो उसे एकाग्रचिंता कहते है। उस एकाग्रचिंताका निरोध करना अर्थात् किसी एक मुख्य पदार्थको छोड़कर अन्य सब पदार्थों के चिंतवनका त्याग कर देना एकाग्रचितानिरोध कहलाता है और उसीको ध्यान कहते हैं। उस ध्यानका योग—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फलके भेदसे चार प्रकारका होता है। चिंतवनकरना ध्यान है। जो अशुभ तथा शुभ परिणामोंका कारण हो उसे ध्येय कहते है। कषायोसे जिसका चित्त कलुषित है अथवा जो मन वचन काय तथा इंद्रियोको वश करनेवाला है वह ध्याता वा ध्यान करने वाला कहलाता है। इसका फल संसारमें परिभ्रमण करना अथवा स्वर्ग मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होना है। जिसके ऊपर लिखे हुए चार अंग है ऐसा ध्यान अशुभ और शुभके भेद दो प्रकारका है। यद्यपि यहां पर शुभध्यानोंका अधिकार है तथापि जानकर त्यागकर देनेके लिये अशुभ ध्यानोंका वर्णन

किया है। आर्त और रौद्रके भेदसे अशुभ ध्यान दो प्रकारका है। उसमें भी बाह्य और अध्यात्मके भेदसे आर्तध्यान भी दो प्रकारका है। अन्य लोग जिसका अनुमानकर सके उसे बाह्य कहते है। शोक करना रोना विलाप करना, खूब जोरसे रोना, विषयोंकी इच्छा करना, तिरस्कार करना व अभिमान करना आदि बाह्य आर्तध्यान कहलाता है। जिसे केवल अपनाही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक आर्तध्यान कहते है वह आध्यात्मिक आर्तध्यान चार प्रकारका होता है। अमनोज्ञ पदार्थके साथ संबंध उत्पन्न न होनेके संकल्पका चिंतवन करना, अमनोज्ञ पदार्थके साथ सम्बन्ध उत्पन्न होने पर उसके विनाश होने के संकल्प का चिंतवन करना, मनोज्ञ पदार्थोंके वियोग होनेपर उनके उत्पन्न होनेके संकल्पका चिंतवन करना और मनोज्ञ पदार्थोंके साथ संबंध हो जानेपर उनके विनाश न होनेके संकल्पका चिंतवन करना। इन्हीं चारों आर्तध्यानोंका स्वरूपआगे बतलाते है। दुःखोंके कारणोंको अमनोज्ञ कहते है। वह अमनोज्ञ बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है। उसमे भी बाह्य अमनोज्ञ चेतनका किया हुआ और अचेतनका किया हुआ ऐसे दो प्रकारका है। देव मनुष्य और तिर्यंचोंके द्वारा दिया हुआ दुःख चेतनके द्वारा किया हुआ बाह्य अमनोज्ञ है और विष, कांटा, अग्नि, शस्त्र, क्षार, शीत, उष्ण आदिके द्वारा प्राप्त हुआ दुःख अचेतन कृत बाह्य अमनोज्ञ है। आध्यात्मिक अमनोज्ञभी शारीरिकऔर मानसिकके भेदसे दो प्रकारका है। इसमे वातपित्त श्लेष्माकी विषमतासे उत्पन्न हुई मस्तक, आंख, दांत और पेट आदिकी पीड़ासे उत्पन्न हुआ दुःखका साधन शारीरिक आध्यात्मिक अमनोज्ञ है तथा अरति शोक, भय, जुगुप्सा विषाद चित्तकी मलिनता आदिसे उत्पन्न हुआ दुःखका साधन मानसिक आध्यात्मिक अमनोज्ञ है। इन चारों प्रकारके अमनोज्ञोंका संबंध मेरे साथ उत्पन्न न हो इसप्रकारके संकल्पका बार बार चिंतवन करना और वह भी तीव्र कषायोंके संबंधसे चिंतवन करना अमनोज्ञ पदार्थके साथ

संबंध उत्पन्न न होनेके संकल्पका चिंतवन नामका पहिला आर्तध्यान कहलाता है। इन दुःखोंके कारण उत्पन्न होनेपर उनके विनाश होनेकी इच्छा उत्पन्न होनेसे उनके विनाशके संकल्पका बार बार चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान है। धन धान्य हिरण्य [चांदी] सुवर्ण, सवारी, शय्या, आसन, माला, चंदन और स्त्री आदि सुखोंके साधनोको मनोज्ञ कहते है। ये मनोज्ञ पदार्थ मेरे हों इसप्रकार चिंतवन करना, मनोज्ञ पदार्थोंके वियोग होनेपर उनके उत्पन्न होनेके संकल्पका बार बार चिंतवन करना नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है। सुखोंके साधन प्राप्त होने पर "मेरे उनका वियोग कभी न हो" इसप्रकारका संकल्प करते रहना चौथा आर्तध्यान कहलाता है। ये चारों प्रकारके आर्तध्यान कृष्ण नील कापोत लेश्याओंके बलसे होते हैं तथा प्रमादसे ही उत्पन्न होते हैं। यह आर्तध्यान अप्रमत्तसे पहिले पहिले छह गुण स्थानोमें होता है और अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक होता है। इससे आगे वह दुर्धर है अर्थात् अंतर्मुहूर्तसे अधिक हो ही नहीं सकता। यह परोक्षज्ञान होनेसे क्षायोपशमिक भाव है तथा इसका फल तिर्यंच गतिकी प्राप्ति होना है।

रौद्रध्यान भी बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे दो प्रकारका है। उसमे भी अन्य लोग जिसे अनुमानसे जान सकें उसे बाह्य कहते है। और कठोर वचन, मर्मभेदी वचन, आक्रोश (गाली गलौज) वचन, तिरस्कार करना, बांधना, तर्जन करना, ताडन करना तथा परस्त्री पर अतिक्रमण करना आदि बाह्य रौद्रध्यान कहलाता है। जिसे अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक रौद्रध्यान कहते है और हिंसानंद, मृषानंद, स्तेयानंदके तथा विषयसंरक्षणानंदके भेदसे वह आध्यात्मिक रौद्रध्यान चार प्रकारका है। तीव्र कषायके उदयसे हिंसामे आनंदमानना पहिला रौद्रध्यान है। जिनपर दूसरोंको श्रद्धान हो सकें ऐसी अपनी बुद्धिके द्वारा कल्पनाकी हुई युक्तियोंके द्वारा दूसरोको ठगनेकेलिये झूठ बोलनेके संकल्पका बार बार चिंतवन

करना मृषानंद नामका दूसरा रौद्रध्यान है। जबर्दस्ती अथवा प्रमादकी प्रतीक्षापूर्वक दूसरेके धनको हरण करनेके संकल्पका बार बार चिंतवन करना तीसरा रौद्रध्यान है। चेतन अचेतनरूप अपने परिग्रहमे यह मेरा परिग्रह है, मैं इसका स्वामी हूं, इस प्रकार ममत्व रखकर उसके अपहरण करनेवालेका नाशकर उसकी रक्षा करनेके संकल्पका बार बार चिंतवन करना विषय संरक्षणानंद नामका चौथा रौद्रध्यान है। यह चारों ही प्रकार का रौद्रध्यान कृष्ण नील और कापोतलेश्याके बलसे होता है तथा प्रमाद पूर्वक होता है। प्रमत्त गुणस्थानसे पहिले पहिले पांच गुणस्थानोमे होता है और अंतर्मुहूर्त तक होता है अंतर्मुहूर्तके आगे दुर्धर है अर्थात् इससे अधिक समय तक यह कभी धारण नहीं किया जा सकता। यह परोक्षज्ञान गोचर होनेसे क्षायोपशमिक भाव है अथवा भाव लेश्या और कषायोंकी प्रधानता होनेसे औदयिक भाव है। यह नरकगतिका फल देनेवाला है।

ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों ही अपध्यान हैं। मोक्षकी इच्छा करनेवाले भिक्षुकको ये दोनो ही छोड़ देना चाहिये। इसके सिवाय उसे परीषहोंकी सब बाधाएं सहन करनी चाहिये उसे शक्तिशाली तथा उत्तम संहननोंकाधारक होना चाहिये और शुभध्यानकरनेमे निपुण होना चाहिये। जहां ध्यान किया जाय वह स्थान पर्वतकी गुफा, दरी, कंदरा, वृक्षके कोटर नदियोंके किनारे, श्मशान, जीर्णवन और सूने मकान आदिमेसे कोई सा भी एक होना चाहिये परंतु वह ऐसा होना चाहिये जहां सर्प पशु जंगली जानवर नपुंसक और मनुष्य आदि न जा सके, वहांके रहनेवाले तथा बाहर से आनेवाले जीवोसे रहित हो, अत्यंत ऊष्णता [गर्मी] अत्यंत सर्दी अत्यंत वायु अत्यंत वर्षा और अत्यंत धूपसे रहित हो जिसके चारों ओर इंद्रिय और मनको क्षोभ करनेवाले कोई पदार्थ न हो, जो पवित्र हो और जिसका स्पर्श अनुकूलहो ऐसे पृथ्वी तलपर सुखपूर्वक बैठना चाहिये। अपना आसन पर्यंकासन बांधकर बैठना चाहिए अपनीगोदपर बाये हाथकी हथेलीपर दायें

हाथको ऊपरकी ओर हथेलीकर रखना चाहिये नेत्रोंको न तो बिल्कुल खुला ही रखना चाहिये और न बिल्कुल बंद ही कर लेना चाहिये। दांतोंसे दांत मिलालेना चाहिये (इसतरह करनेसे ओठोंसे ओठ अपनेआप मिल ही जायेंगे) प्राण और अपानके प्रचारका अत्यंत निग्रह करनेसे तीव्र दुःख होता है तथा आकुलित चित्त होता है इसलिए ऐसा करनेसे एकाकार परिणाम कभी नहीं हो सकते अतएव प्राण और अपानका प्रचार मंद मंद रीतिसे होते रहना चाहिये। इसप्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भावकी शुद्धता प्रतिपक्षी दोषोंसे रहित परम योगीको संसाररूपी लताकी जड़ काटनेका कारण ऐसे शुभध्यानका चिंतवन करना चाहिये।

वह ध्यान दो प्रकारका है—एक धर्मध्यान और दूसरा शुक्लध्यान। उन में भी बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे धर्म्यध्यान भी दो प्रकारका है। जिसे अन्य लोग भी अनुमानसे जान सके उसे बाह्य धर्मध्यान कहते हैं। सूत्रोंके अर्थकी गवेषणा (विचार वा मनन करना) व्रतोंको दृढ़ रखना, शील गुणोंमें अनुराग रखना, हाथ पैर मुंह आदि शरीरका परिस्पंदन और वचन व्यापार को बंद करना, जंभाई लेना, जंभाईके उद्‌गार प्रकट करना, छींकना तथा प्राण अपानका उद्रेक, आदि सब क्रियाओंका त्याग करना बाह्य धर्मध्यान है। जिसे केवल अपनाही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक कहते हैं। वह आध्यात्मिक धर्मध्यान अपाय, उपाय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतविचयके भेद से दश प्रकारका है। जिसने देखे सुने और अनुभव किये हुऐ दोष सब छोड़ दिये है जिसके कषायोंका उदय अत्यंत मंद है और जो अत्यंत श्रेष्ठ भव्य है उसीके यह दशो प्रकारका धर्मध्यान होता है। आगे उन्हींको दिखलाते हैं—"मेरा यह जीव अनादि कालसे इस संसारमे अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण कर रहा है इसलिए मेरे मन वचन कायकी विशेष प्रवृत्तिसे उत्पन्न हुए पापोंका त्याग किस प्रकार होगा" इसप्रकार संकल्पकर वार वार चिंत-

वन करना पहिला अपायविचय नामका धर्मध्यान है। "मेरे सदा और अवश्य रहनेवाली शुभ मनवचन कायकी विशेष प्रवृत्ति किस प्रकार होगी" इसप्रकारका संकल्पकर बार बार चितवन करते रहना दूसरा उपायविचय नामका धर्मध्यान है। यह जीव उपयोग लक्षणवाला है अर्थात् इसकालक्षण ही उपयोग है अथवा यह उपयोग स्वरूप है, द्रव्यार्थिक नयसे अनादि अनंत है (अनादि कालसे चला आया है और अनंत कालतक रहेगा) असंख्यात प्रदेशी है, अपने किये हुए शुभ अशुभ कर्मोके फलको भोगनेवाला है, गुणी वा गुणवाला है, आत्माके द्वारा प्राप्त हुए शरीरके प्रमाणके बराबर है, इसके प्रदेशोमे संकोच विस्तार होना इसका धर्म वा स्वभाव है, यह सूक्ष्म है अव्याघाती (न किसीको रोकता है और न किसीसे रुकता है) है, ऊर्ध्व गमन करना इसका स्वभाव है, अनादि कालसे लगे हुये कर्मोके बंधनसे बंधा हुआ है और इन कर्मो के नाश हो जाने पर मोक्ष सुखका भोक्ता होता है। गति इंद्रिय आदि, नाम स्थापना आदि, निर्देश स्वामित्व आदिसत् संख्या आदि तथा प्रमाण नय निक्षेप आदिके गोचर है अर्थात् इसका स्वरूप इन सबसे जाना जाता है। इसप्रकार जीवके स्वभावका चितवन करना तीसरा जीवविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है।

कर्मोके आठ भेद हैं तथा नाम स्थापना द्रव्य भावके भेदसे और मूल प्रकृति उत्तरप्रकृति तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियोके भेदसे उनके अनेक भेद होते हैं। उनमेसे शुभ कर्मोका विपाक (उदय वा फल देना) गुड़ खांड (शक्कर) मिश्री और अमृतरूप उत्तरोत्तर मीठा वा श्रेष्ठ हुआ करता है और अशुभ प्रकृतियोका विपाक, नीम, कांजी, विष और हलाहलरूप कडवा वा बुरा दुःख देनेवाला होता है। उन कर्मोका बंधभी लता (बेल) दारु (लकड़ी) अस्थि (हड्डी) और पर्वत स्वभावरूप चार प्रकारका होता है। ये सब कर्म किस किस गतिमें किस किस योनिमे और किस किस अवस्थामे जीवोंके विषय-भूत होते हैं अर्थात् प्रत्येक गतिमे प्रत्येक योनिमें और प्रत्येक अवस्थामे किन

किन कर्मोंकाबन्ध उदय होता है वा किनकिन कर्मोंकी सत्ता रहती है आदि कर्मोंके विशेष उदयका बार बार चिंतवन करना पांचवां विपाक विचय नामका धर्मध्यान है यह शरीर अनित्य है कोई इसकी रक्षा नहीं कर सकता नाश होना इसका स्वभाव है यह अपवित्र है, दोषका स्थान है, सातों धातु-ओसे बना हुआ है, अनेक तरहके मलोसे परिपूर्ण वा भरा हुआ है, इसके नवद्वाररूपी विल सदा बहते रहते हैं, यह अत्यंत वीभत्स है, आधेय है, अपवित्र होकर भी दुर्गंधमय है, सम्यग्ज्ञानी लोगोंको वैराग्य उत्पन्न होनेका कारण है और इसमें कोई भी पदार्थ वा कुछ भी भाग सुन्दर वा मनोहर नहीं है। इंद्रियों के सुख आरंभमें तो अच्छे लगते है परन्तु अंतमें बड़े ही नीरस है, पके हुए किंपाक फलके समान ही इनका भी विपाक होता है ये इंद्रियोंके सुख सब पराधीन हैं और बीचमें ही अनेक बार नष्ट हो जाते हैं। जब जबतक ये सुन्दर जान पड़ते हैं तब तबतक भोग करने वालोंको इनकी तृष्णा बढ़तीही जाती है। जिसप्रकारइंधनसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती और हजारों नदियोके जल से समुद्र की तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार संसारमेभी इन विषय सुखोंसे न कभी तृप्ति होती है और न कभी शांति होती है। ये विषय-सुख इसलोक और परलोक दोनों लोकोमें अनेक उपद्रव करनेवाले हैं तथा महादुःखके कारण है तथापि संसारी प्राणी इन्हें सुखका कारण मानते है यद्यपि ये आत्मा से बाह्य है तथापि लोग इन्हें इष्ट मानते हैं परन्तु वास्तवमे देखा जाय तो ये अनिष्ट ही हैं इसप्रकार वैराग्यके विशेष कारणों का चिंतवन करना छठा विरागविचय नामका धर्मध्यान है। सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत्त, विवृत्त, मिश्र ये नौ योनियां हैं इनमे यह जीव जरायुज अंडज पोत उपपाद संमूर्च्छन रीतिसे जन्म लेकर एक भवसे दूसरे भवमें परिभ्रमण किया करता है उस समय अर्थात् एक भव छोड़कर दूसरे भवमे जाते समय इषु गति, पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति, और गोमूत्रिका गति ये चार गतियां होती हैं इनमेसे इषुगति कुटिलतारहित

(मोडा रहित) होती है एक समयमें होती है और सीधी होती है तथा संसारी जीवोके भी होती है और मुक्त होनेवाले जीवोंके भी होती है। पाणिमुक्तागति एक विग्रहा अर्थात् एक मोड़ा सहित होती है, दो समयमे होती है और संसारी जीवोंके ही होती है। लांगलिकागति द्विविग्रहा अर्थात् दो मोडासहित होती है तीन समयमे होती है और संसारी जीवोंके ही होती है। गोमूत्रिकागति तीन विग्रहवाली (तीन मोडावाली) होती है चार समयमें होती है और संसारी जीवोके ही होती है। इसप्रकार अनादि संसार मे परिभ्रमणकरते हुए जीवके सम्यग्दर्शन आदि विशेष गुणोकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये इसका संसारमे परिभ्रमण करना व्यर्थ ही है इसप्रकार संसार मे परिभ्रमण करनेके दोषोंका बार बार चिंतवन करना सातवां भवविचय नामका धर्मध्यान है। संसारमेजो पदार्थ जिस अवस्थामे विद्यमान है उनका उसी प्रकार विचार वा मनन करना आठवां संस्थान विचय नामका धर्मध्यान है। वह अनित्यत्व, अशरणत्व संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातके भेदसे बारह प्रकारका है इन्हीं बारहोंको अनुप्रेक्षा कहते है।लिखाभी है—समुदेति इत्यादि।

पर्याय नयसे समस्त पदार्थ नियमरूपसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते है परंतु द्रव्यार्थिक नयसे न उत्पन्न होते है और न नष्ट ही होते हैं द्रव्यार्थिक नयसे सब पदार्थ नित्य है।

रागादि परिणाम स्वरूप आत्माके द्वारा जो कर्मोके योग्य पुद्गल द्रव्य कर्मरूपसे ग्रहण कियेगये है अथवा परमाणु आदि जो पुद्गल द्रव्य आजतक ग्रहणनहीं किये हैं वे सबद्रव्य रूपसे नित्य है परन्तु पर्यायनयसे सदा लगेहुए भेदरूप संसर्गके सम्बन्धसे अनित्य है, शरीर औरइंन्द्रियोंके विषयोंके उपभोग परिभोगकरने योग्य समुदाय रूप सब द्रव्यभी जलके बुद्बुदाके समान अनवस्थित स्वभाव है अर्थात् शीघ्रहीनष्ट हो जाते है। गर्भ आदि विशेष अवस्थाओ मे भी संयोग और वियोग सदा प्राप्त होते रहते है परन्तु मोहनीय कर्मके

उदयसे यह अज्ञानी जीव इस संसारमें सबको नित्य मानता है। संसारमें आत्माके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभावके सिवाय और कुछ भी नित्य नहीं है इसप्रकार चिंतवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है, इसप्रकार इस भावनाके चिंतवन करनेसे उन पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि नहीं होती और ममत्व-बुद्धिके न होनेसे उपभोग कर छोडे हुए गंध माला आदि पदार्थोंके समान उनका वियोग होने पर भी किसी तरहका क्लेश उत्पन्न नहीं होता है।

इस संसारमें शरण दो प्रकारका है—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर। तथा वे दोनोंही जीव, अजीव और मिश्रके भेदसे तीन तीन प्रकारके है। राजा देवता आदि लौकिक जीव शरण हैं। कोट शहर पनाह आदि लौकिक अजीव शरण हैं और कोट खाई सहित गांव नगर आदि लौकिक मिश्रशरण हैं। अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु ये पांचों ही गुरु लोकोत्तर जीव शरण हैं इन अरहंत आदिके प्रतिबिंब आदि लोकोत्तर अजीव शरण हैं। धर्मसहित साधुओंका समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्रशरण हैं जिसप्रकार किसी एकांत स्थानमें अत्यंत बलवान भूखा और मांसका लोलुपी बाघ किसी हिरणके बच्चे को पकड़ लेता है और फिर उसे कोई नहीं बचा सकता उसीप्रकार जन्म जरा (बुढापा) व्याधियों इष्ट का वियोग, अनिष्टका संयोग, इष्टका लाभ न होना, दरिद्रता, दुर्मनस्कता (मनका चंचल रहना) आदिसे उत्पन्न हुए अनेक दुःखों से ग्रसित हुए इस प्राणीको कोई शरण नही है दु खोंसे इसे कोई नहीं बचा सकता। यह अत्यंत पुष्ट किया हुआ व पाला पोसा हुआ शरीर भी केवल भोजनके लिए सहायक होता है परंतु किसी आपत्तिके आजानेपर यह बिल्कुल सहायता नहीं देता। बड़े यत्नसे संचित किया हुआ धन भी दूसरे जन्ममे साथ नहीं जाता। सुख दुखको बांटने वाले मित्रगण भी मरनेके समय रक्षा नहीं कर सकते और भाई बंधु सब मिलकर भी उस रोगी पुरुषको नहीं बचा सकते। इस संसारमे इस जीवको यदि कोई सहायक है तो अच्छीतरह आचरण

किया हुआ धर्म ही है। यह धर्म ही संसाररूपी महासागरसे पार होनेका साधन है जिससमय मृत्यु इस जीवको ले जाने लगता है उससमय इंद्र भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता इसीलिये संसारकी समस्त आपत्तियोके समय एक धर्म ही शरण है मित्र और धन भी इस जीवके साथी नहीं है अतएव इस संसारमें कोई भी शरण नहीं है इसप्रकार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है इसप्रकार इस अनुप्रेक्षाके चिंतवन करनेसे "मैं सदा अशरण हूं अर्थात् मेरा कोई शरण नहीं है" इस तरहकी भावनासे इस जीवका चित्त सदा उद्विग्न वा विरक्त रहता है और फिर विरक्त परिणाम होनेसे संसारके समस्त पदार्थोंसे उसका ममत्व छूट जाता है तथा भगवान सर्वज्ञ अरहंतदेव के कहे हुए आगममे उसका चित्त तल्लीन हो जाता है।

संसार, असंसार, नो संसार और त्रितयव्यपाय अर्थात् तीनोसे रहित ये संसारकी चार अवस्थाएं हैं। अनेक भेदरूप योनियोमे जन्म मरण करते हुए चारो गतियोमे परिभ्रमण करना संसार कहलाता है। मोक्षपदरूप परमामृत सुखकी प्राप्ति होना असंसार है। सयोग केवली चारों गतियोमे परिभ्रमण नहीं करते और उनके संसारका अंत भी हुआ नहीं है इसलिये उन्हे ईषत्संसार अथवा नोसंसार कहते है। तत्त्रितयव्यपाय अर्थात् इन तीनों से रहित अयोग केवली है क्योंकि उनके संसारके परिभ्रमणका अभाव है सयोग केवलियोके समान उनके प्रदेशोका परिस्पंदन नहीं होता और उनके संसार का अंत नहीं हुआ है। शरीरके परिस्पंदनका अभाव होने पर भी संसारी जीवोके सदा प्रदेश परिस्पंदन हुआ करता है। इसीलिये उनके सदा संसार रहता है। सिद्ध और अयोग केवलियोके प्रदेश परिस्पंदन नहीं होता क्योंकि उनके प्रदेश परिस्पंदन होनेके लिए उसके योग्य कर्मरूप सामग्रीका अभाव है। शेष जीवोंके मन वचन काय इन तीनो योगोंके द्वारा प्रदेश परिस्पंदन होता है। वह संसार अभव्य जीवकी अपेक्षासे अनादि तथा अनिधन है [आदि अंत दोनोंसे रहित है] भव्य सामान्यकी अपेक्षासे अनादि तो है परंतु

नष्ट हो सकता है। भव्य विशेषकी अपेक्षासे कथंचित् सादि है परंतु सनिधन अर्थात् सांत है। असंसार अर्थात् मोक्ष सादि है परंतु अनिधन अर्थात् अंत रहित है। तत्रितयव्यपाय अर्थात् चौदहवे गुणस्थानका समय अंतर्मुहूर्त है। नोसंसारका समय जघन्य, अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ कम एक कोटि पूर्व है। सादि और सांत संसारका समय जघन्य अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गलपरावर्तन है। द्रव्य क्षेत्र काल भव भावके भेदसे संसार पांचप्रकार का है। द्रव्यनिमित्तिक संसार अर्थात् द्रव्यसंसार कर्म और नोकर्मकी विवक्षा के भेदसे दो प्रकार है। कर्म द्रव्य संसार ज्ञानावरण आदि कर्मोंके विषयभूत है और नोकर्म द्रव्यसंसार औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर तथा आहार शरीर इंद्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन इन छह पर्याप्तियोंके विषयभूत है। जिसमें क्षेत्र ही कारण हो उसको क्षेत्रसंसार कहते हैं वह स्वक्षेत्र और परक्षेत्रके भेदसे दो प्रकारका है। इस आत्माके प्रदेश लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर हैं परंतु कर्मोंके उदयके कारण उनमें संकोच विस्तार होनेकी शक्ति है। इसीलिये यह आत्मा कभी आकाशके थोडेसे प्रदेशोंमें ही अवगाहन करता है और कभी अधिक प्रदेशोंमें इसीको स्वक्षेत्रसंसार कहते हैं संमूर्च्छन गर्भ उपपाद इन तीनों जन्म तथा नौ योनियोंके भेदोंका सहारा लेकर जन्म मरण करना परक्षेत्र संसार है। परमार्थ और व्यवहार के भेदसे काल भी दो प्रकारका है। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं वे परस्पर कभीबंध रूप नहीं होते अर्थात् मिलते नहीं, एक एक लोकाकाशके प्रदेशपर एक एक कालाणु है इसतरह वे कालाणु समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं. उनमें न तो मुख्य प्रदेश कल्पना है और न उपचार से प्रदेश कल्पना है इसलिये वे कालाणु अवयवरहित हैं। धर्म अधर्म, जीव आकाश और स्कंध आदि संबद्ध पुद्गलोंमें मुख्य प्रदेश कल्पना है तथा परस्पर मिलनेकी शक्ति होनेसे पुद्गल परमाणुमें उपचारसे प्रदेश कल्पना है। कालाणुमें किसी तरहकी प्रदेश कल्पना नहीं है उनमें काल होनेका

कोई कारण नहीं है इसलिये वे नित्य हैं और अनेक तरहसे परिणमनशील ऐसे छहों द्रव्योंकी पर्यायोके परिवर्तनका कारण होनेसे अनित्य है । उनमे रूप रस गंध स्पर्शका संबंध नहीं है इसलिये अमूर्त है और जीवोके प्रदेशोके समान वे आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशतक जा आ नहीं सकते इसलिये निष्क्रिय वा क्रियारहित है ऐसे उन कालाणुओको परमार्थ काल कहते है। परमार्थकालकी वर्तनाके द्वारा जिसे कालसंज्ञा प्राप्त हुई है, परिणाम क्रिया परत्व अपरत्व जिसका लक्षण है अर्थात् इन तीनोसे जो जाना जाता है उसे व्यवहार काल कहते है यह व्यवहारकाल किसी अन्यसे (सूर्योदयादिकसे) परिच्छिन्न है और अपरिच्छिन्न द्रव्योके परिच्छेदका कारण है ।

वह व्यवहार काल भूत वर्तमान और भविष्यत्के भेदसे तीन प्रकार का है । जिसप्रकार अनेक वृक्षोंकी पंक्तियोके अनुसार कोई देवदत्त नामका पुरुष चल रहा हो तो उसके लिये एक एक वृक्षके प्रति यह भाव उत्पन्न होता है कि इस वृक्षतक वह पहुंच गया इस वृक्षके समीप जा रहा है और इस वृक्षपर जायगा उसीप्रकार अनुक्रमसे वर्तमान पर्यायोंका अनुभव करते हुए उन कालाणुओके अनुसार रहनेवाले द्रव्योके भूत वर्तमान भविष्यत् व्यवहार प्रगट होता है । उसमे भी परमार्थकालमें भूत वर्तमान भविष्यत्का व्यवहार गौण रीतिसे होता है और व्यवहार कालमे इन तीनोंका व्यवहार मुख्य रीति से होता है । यहांपर बहुत कहनेसे क्या लाभ है केवल इतना समझ लेना चाहिये कि उस कारणभूत परमार्थ कालसे छहो द्रव्य कार्यरूप परिणत होते रहते है । उन द्रव्योका परिच्छेद करनेवाले समय आवलिका आदि है । द्रव्य का एक पर्याय एक समयरूप है तथा दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंत पर्यायोंका समूह दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंत समयरूप है । जिसप्रकार दीपक स्वप्रकाशक होकर परप्रकाशक है उसीप्रकार काल भी स्वप्रवर्तक होकर परप्रवर्तक है । अथवा सबसे जघन्यगतिरूप परिणत हुआ पुद्गलका परमाणु जितने देरमें अपने रहने योग्य आकाशके प्रदेशका उल्लं-

घन करता है अर्थात् समीपवर्ती प्रदेशतक पहुंचता है उतने परम निरुद्ध और विभाग रहित कालको समय कहते हैं यह काल संसार है।

भव निमित्तक संसार बत्तीस प्रकारका है। पृथिवीकायिक, जल-कायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक। ये चारो ही प्रकारके जीव सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, वादर पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चार चार प्रकारके होते है। सब सोलह भेद होते है। वनस्पतिकायिक दो प्रकार के है एक प्रत्येक शरीर और दूसरा साधारण शरीर। पर्याप्त अपर्याप्तकके भेदसे प्रत्येक शरीर भी दो प्रकारके हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय, उच्छ्‌वास, निश्वास और पर्याप्तिके निमित्त कारण आहार वर्गणाके पुद्गलपिंड ग्रहण करनेवाले साधारण शरीर कहलाते है। उनमेसे यदि एकका मरण हो तो सबका मरण हो जाता है और एककी उत्पत्ति हो तो अनंत जीवोंकी उत्पत्ति होती है उन साधारण जीवोंका चिन्ह गूढशिरा आदि है। लिखा भी है—साहारण इत्यादि।

भावार्थ—इन साधारण जीवोंका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्‌वासका ग्रहण होता है साधारण जीवोंका लक्षण परमागममे साधारण ही कहा है ॥१९१॥ साधारण जीवोंमें जहांपर एक जीव मरण करता है वहांपर अनंत जीवोका मरण होता है और जहांपर एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनंत जीव उत्पन्न होते है ॥१९२॥ जिनका शिरा, संधि पर्व अप्रगट हों और जिसका भंगकरने पर समान भंग हो और दोनो भंगोमे परस्पर तंतु न लगा रहे, छेदन करनेपर भी वृद्धि हो जाय उसको साधारण शरीर कहते हैं और इसके विपरीतको प्रत्येक कहते हैं।१८६। जिन वनस्पतियोंके मूल, कंद, त्वचा, प्रवाल (नये पत्ते) छोटीशाखा पत्र फूल फल तथा बीजोंको तोडनेसे समान भंग हो उनको साधारण कहते हैं और जिनका भंग समान न हो उनको प्रत्येक कहते हैं ॥१८७॥ जिन वनस्पतियोंके कंद मूल क्षुद्रशाखा या स्कंधकी छाल मोटी हो उनको साधा-

रण कहते हैं और जिसकी छाल पतली हो उसको प्रत्येक कहते हैं ॥१८८॥ (ये गोम्मटसार जीवकांडके गाथा हैं)

वे साधारण जीव सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तकके भेदसे चार प्रकारके हैं दो इंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक अपर्याप्तकके भेदसे दो दो प्रकारके हैं । पंचेंद्रिय जीव संज्ञी पर्याप्तक, संज्ञी अपर्याप्तक, असंज्ञी पर्याप्तक और असंज्ञी अपर्याप्तकके भेदसे चार प्रकारके हैं इस प्रकार सब बत्तीस भेद होते हैं । भावनिमित्तक संसारके दो भेद हैं—एक स्वभाव दूसरा परभाव । मिथ्यादर्शन कषाय आदि स्वभाव संसार है और ज्ञानावरणादि कर्मोके रसादिक परभावसंसार है । इस प्रकार अनेक योनियां और लाखो कुलकोडियोसे भरे हुए इस संसारमे परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मरूपी यंत्रोसे प्रेरित होकर पिता होकर भाई हो जाता है, पुत्र हो जाता है तथा पौत्र हो जाता है, माता होकर बहिन स्त्री और पुत्री हो जाती है बहुत कहनेसे क्या ? वह स्वयं मरकर अपना पुत्र हो जाता है । इस प्रकार संसारके स्वभावका चिंतवन करना संसारानुप्रेक्षा है ।

बार बार होनेवाले जन्म जरा मरणोके महादुःखोके अनुभवके लिए सहायताकी अपेक्षा न रखना एकत्व है । एकत्व और अनेकत्व ये दोनो ही द्रव्य क्षेत्र काल भावके भेदसे चार चार प्रकारके हैं । जीवादिक पदार्थोमेसे किसी एक पदार्थके विषयको लेकर अभेद बुद्धि रखना द्रव्य एकत्व है । परमाणुके रहने योग्य प्रदेशको क्षेत्र एकत्व कहते हैं । अभेदरूप समयको काल एकत्व कहते है । तथा मोक्षमार्गको भाव एकत्व कहते है । जिसप्रकार अभेद विषयको एकत्व कहते हैं उसीप्रकार भेद विषयको अनेकत्व कहते हैं । संसारमें न तो कोई भी पदार्थ एक है और न अनेक ही हैं किंतु सामान्यकी अपेक्षासे एक है और विशेषकी अपेक्षासे अनेक है । जिस जीवने बाह्य आभ्यंतर उपाधियोका त्याग कर दिया है तथा सम्यग्ज्ञानसे एकत्वका निश-

उपकार लिया है उसके एक यथाख्यात चारित्रकी वृत्ति धारण करनेसे मोक्ष-मार्गके भाव प्रगट होते हैं इसलिये उसके वह एकत्व कहलाता है । उस एकत्वकी प्राप्तिके लिये "इस संसारमे मैं अकेला हूं स्व और पर मेरा कोई नही है मैं अकेला ही जन्म लेता हूं और अकेला ही मरता हूं स्वजन और परजन कोई मनुष्य भी मेरी व्याधियां, बुढापा और मरण आदिके दुःखोंको दूर नही कर सकता । बंधु मित्र आदि श्मशानसे आगे नही जा सकते एक धर्मही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा" इसप्रकार चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है । इसप्रकार चिंतवन करनेसे अपने कुटुम्बी लोगोंसे प्रेम नही बढता और अन्य लोगोमे द्वेष नही बढ़ता । इसप्रकार राग द्वेषका अभाव होनेसे निःसंगता बढ़ती है और निःसंगता बढ़नेसे मोक्ष प्राप्त होती है । इसप्रकार एकत्व अनुप्रेक्षाका वर्णन किया ।

आगे अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, भावके अवलंबन के भेदसे अन्यत्व चार प्रकारका होता है । आत्मा है जीव है यह नाम भेद है । काष्ठ पाषाण आदिकी बनाई हुई प्रतिमा स्थापना भेद है । यह जीव द्रव्य है, अजीव है आदि द्रव्य भेद है । एकही जीव द्रव्यमें बालक युवा मनुष्य देव आदि भाव भेद है । यद्यपि जीव कर्मोंका बंध होनेसे दोनो एक हो रहे हैं तथापि लक्षणभेदसे दोनो भिन्न भिन्न हैं । जीव ज्ञानोपयोग और दर्शनो-पयोगरूप है तथा पुद्गल वर्ण गंध रस स्पर्शवाला है यह लक्षणसे दोनोमे भेद हुआ । प्रतिसमयमे अनंतानंत कर्म परमाणु योगोंके निमित्तसे आते हैं तथा जीवके प्रदेशोंमे (दूधपानीके समान) परस्पर एक दूसरेके प्रदेशोंमें मिल-कर एक हो जाते हैं कषायोंके निमित्तसे उनमे ठहरनेकी शक्ति हो जाती है इसलिये वे वही ठहर भी जाते हैं । इसीप्रकार प्रतिसमयमें अनंतानंत कर्म पुद्गल जीवको छोड़कर अलग भी हो जाते हैं । इसप्रकार यह बंधके प्रति भेद सिद्ध होता है । नोकर्म पुद्गल भी बंधन गुणसे जीवमें दूध पानीके समान एक क्षेत्ररूप हो जाते हैं और फिर प्रति क्षणमे निर्जीर्ण होते जाते हैं । यह

जीव स्वयं कर्मोके निमित्तसे उनके योग्य शरीर बनाता है परंतु वह उस शरीरमे रहकर भी जिसप्रकार नख, रोम और दांतोकी हड्डियोमे नही रहता उसीप्रकार रुधिर वसा शुक्र रस श्लेष्मा पित्त मूत्र पुरीष (भिष्टा) और मस्तिष्क आदिके प्रदेशोमे भी नही रहता। इसप्रकार यह जीव कर्मोके द्वारा बने हुए शरीरसे बिलकुल भिन्न रहता है। तथा किसी कुशल पुरुषके प्रयोग करनेपर (मोक्षके लिये उद्यम करनेपर) शरीरसे अत्यंत भिन्न होनेके कारण जो आत्मासे कभी भिन्न हो नहीं सकते ऐसे ज्ञान आदि अनंत गुणोके साथ साथ मोक्ष स्थानमे जाकर प्राप्त होता है। उस मोक्षस्थानके प्राप्त होनेके लिये "यह शरीर इंद्रियमय है, मै अतीद्रिय हूं, शरीर अज्ञान वा जड़ स्वरूप है परन्तु मै ज्ञानस्वरूप हूं यह शरीर अनित्य है, मै नित्य हूं, शरीरका आदि अंत दोनो हैं परन्तु मेरा न आदि है, न अंत है संसारमे परिभ्रमण करते हुए मेरे बहुतसे शरीर व्यतीत हो गये परंतु मै ज्योका त्यो वही बनाहुआ हूं और उन शरीरोसे सर्वथा भिन्न हूं। हे अंग (हे जीव) यह मेरा आत्मा शरीरसे भी भिन्न है फिर धन धान्य आदि बाह्य परिग्रहोंकी तो बात ही क्या है अर्थात् उनसे तो भिन्न है ही।" इसप्रकार चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इसप्रकार मनको समाधान करनेवाले इस जीवके शरीर आदिमे स्पृहा वा इच्छा नहीं होती और उन पदार्थोकी इच्छा न होनेसे यह जीव अपने कल्याणमे लग जाता है। इसप्रकार यह अन्यत्वानुप्रेक्षाका वर्णन किया।

अब आगे अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते है। पवित्रता दो प्रकार की है—एक लोकोत्तर और दूसरी लौकिक। जिसने विशुद्ध ध्यानरूपी जलसे अपने समस्त कर्ममल कलंक धो डाले है नष्ट कर दिए है ऐसे आत्माका अपने ही आत्मामे स्थिर रहना लोकोत्तर पवित्रता कहलाती है। उस लोकोत्तर पवित्रताके साधन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपश्चरण है तथा सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र तपश्चरणको धारण करनेवाले साधुजन उस पवित्रताके अधिष्ठान वा आधार है। अथवा उस लोकोत्तर पवित्रताके उपा-

यभूत होनेसे निर्वाण भूमि आदि भी पवित्र कहलाती हैं। लौकिक पवित्रता काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका (मिट्टी) गोमय (गोबर) जल, अज्ञान और निर्विचिकित्साके भेदसे आठ प्रकार है। परंतु यह शरीर किसी तरहसे पवित्र नहीं किया जा सकता इसका भी कारण यह है कि वह अत्यंत अपवित्र है इस शरीरके आदिकारण और अंतके कारण दोनोंही अपवित्र है इसलिये यह शरीर भी अपवित्र है इसी बातको आगे दिखलाते है--शरीरके आदि कारण अर्थात् शरीर बननेके कारण शुक्र और शोणित है परंतु वे दोनो ही महा अपवित्र है। शरीरके उत्तर कारण आहारका परिणाम आदि है यह आहार खानेके साथही श्लेष्माशयको प्राप्त होता है और वहांपर श्लेष्माके द्वारा कुछ द्रवीभूत होकर पतला होकर और अधिक अपवित्र हो जाता है। वहांसे पित्ताशयमे पहुंचता है और पककर कुछ खट्टासा होकर उससे भी अधिक अपवित्र हो जाता है। पककर वह आहार वाताशयमें पहुंचता है और वहां वायुसे विभक्त होकर (अलग अलग भागमें बटकर) खलभाग और रसभागों मे बट जाता है। खलभाग मूत्र पुरीष (भिष्टा) आदि पतले और कडे जलसे विकारसे परिणत होकर अलग निकल जाता है। रसभाग शोणित (रक्त वा खून लोहू) मांस मेदा हड्डी मज्जा और शुक्ररूप परिणत हो जाता है इन सब अपवित्र पदार्थोंका पात्र यह शरीर है जो कि भिष्टाके समान ऐसा अपवित्र है कि उसको पवित्र करनेका कोई उपाय हो ही नहीं सकता। इस शरीरकी अपवित्रता स्नान करने उवटन लगाने घिसने और वस्त्रमाला आदिके पहननेसे भी कभी दूर नहीं हो सकती। जिस प्रकार अग्निमे जो चीज पड़ जाती है वह भी अग्निरूप ही हो जाती है उसीप्रकार चन्दनादि जो पदार्थ इस शरीर पर लगाये जाते है वे भी शरीर रूपही अपवित्र हो जाते हैं। गोवर, गोरोचन, हाथीके दांत, चमरीगायके बाल, मृगनाभि (कस्तूरी) गेंडा के सीग, मोरकी पूंछ, सांपकी मणि और सीपके मोती आदि शरीरसे उत्पन्न हुए पदार्थ संसारमे पवित्र माने जाते है परंतु इस शरीरमे कुछ भी भाग

पवित्र और सुंदर नहीं है, न जलादि ही इसकी पवित्रताके कारण हो सकते है। इस संसारमें केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही ऐसे है कि जिनकी भावना करनेसे यह जीव अत्यंत पवित्र हो जाता है। इसप्रकार शरीरके वास्तविक तत्त्वका चिंतवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षाके चिंतवन करनेसे शरीरसे वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर विरक्त होकर यह जीव जन्म मरण रूपी महासागरके पार होनेके लिये अपना चित्त लगाता है। इसप्रकार अशुचित्वानुप्रेक्षाका वर्णन किया।

आगे आस्रवानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं—यहांपर अनुप्रेक्षाओमे केवल वैराग्य प्रगट करनेके लिये ही आस्रव ग्रहण किया गया है। संसारमे कर्मोके जितने आस्रव है वे सब इस लोक और परलोक दोनो जगह इस जीवके स्वाभाविक गुणोंका नाश करनेवाले है। ये इंद्रियां आदि किसी महानदीकी तीक्ष्ण जानेवाली धाराके समान है। देखो! अत्यंत घने और सीधे ऐसे साल, आम, बांस और कुडंगके पेडो का तोड़ना, स्वच्छ सरोवरके जलमें अवगाहन करना, मुलायम और जिसका स्पर्श सुख देनेवाला है ऐसी पृथ्वीपर विहार करना आदि अनेक गुणोसे सुशोभित, वनमे विहार करनेवाले, मदांध, महाकाय (जिनका बहुत बड़ा शरीर है) और बहुत बलवान हाथी कृत्रिम हथिनी मे स्पर्शनेन्द्रियके सुखके लिये आसक्त चित्त होकर मनुष्योंके वश हो जाते है और फिर मारना, बांधना, दमन करना, सवारी करना, अंकुशोंसे ताड़ना और पैरकी एडीसे मारना आदि अनेक कारणोसे उत्पन्न हुए अनेक तीव्र दुःखोका अनुभव करते है। वह प्रतिदिन अपने समूहमें स्वतंत्रता पूर्वक विहार करनेवाले वनवासके सुखका स्मरण करते है और बार बार उसका स्मरण कर अत्यंत दुःखी होते है। इसीतरह जिह्वा इंद्रियके विषयके लोभसे किसी नदीके प्रवाहके वेगमे पड़े हुए मरे हाथीके शरीरपर बैठे हुए कौवे अपार महासागरके भीतर पहुंच जाते है और वहांपर अनेक तरहके दुःख उठाते हैं। इसीप्रकार अगाध जलमें रहनेवाली और नेत्रोके द्वारा दिखाई न देनेवाली

मछलियां भी केवल रसना इंद्रियके वश होकर मांसके लोभसे लोहेकी कील का आस्वादन कर मर जाती है। घ्राण इंद्रियके लौलुपी सर्प औषधि मिली हुई सुगंधिके लोभमें आकर मरनेकी इच्छा करते हैं भ्रमर भी हाथीके मदकी सुगंधके लोभमें पडकर हाथीके इधर उधर चलाये हुए कानोंकी चोट खाकर मर जाते हैं। चक्षु इंद्रियके विषयके वशीभूत हुए पतंग दीपकको देखकर चंचल हो जाते हैं। और उसमे पड़कर जल जाते हैं वा मर जाते है। जिनका मन श्रोत्र इंद्रियके विषयमें (मधुर रागमें) आसक्त हो गया है ऐसे हिरण भी गीतोंकी मधुर ध्वनिके रागमें खड़े होकर हरी घासका खाना भी भूल जाते है और फिर बहेलियोंके द्वारा मारे जाते हैं। ये सब दुःख तो इन्हें इस लोकमे ही भोगने पड़ते हैं। तथा इनके सिवाय परलोकमे भी अनेक तरहके दुःखोसे भरी हुई बहुतसी योनियोंमें उन्हें परिभ्रमण करना पड़ता है। (यह तो तिर्यचोंका उदाहरण बतलाया। मनुष्योंमे भी अनेक बड़े पुरुष ऐसे हुए हैं जिन्हें एक एक इंद्रियकी आसक्तिसे अनेक तरहके दुःख भोगने पड़े हैं) अश्वग्रीव विद्याधरोंका चक्रवर्ती राजा था और तीन खंडका स्वामी था परंतु उसका चित्त स्वयंप्रभाके अंगस्पर्शसे उत्पन्न हुए सुख और स्पर्शके लाभ होने के लोभमें फंस गया था इसीलिये उसे पुत्र भाइयों सहित मरना पड़ा था। राजा सुभूम सकल चक्रवर्ती राजा था और छहों खण्डोंका स्वामी था तथापि रसना इंद्रिय और घ्राण इंद्रियका लोलुपी होनेसे उसे बीच समुद्रमे जाकर वैश्यके भेषको धारण करनेवाले जन्मांतरके वैरीके हाथसे मर जाना पड़ा। इसीतरह अर्द्ध चक्रवर्ती दमितारि भीलनीका नृत्य देखनेमे आसक्त होकर अपने सब कुटुम्बियो समेत मरणको प्राप्त हुआ था। इसीप्रकार यशोधर महाराजकी अमृतमति नामकी महादेवी हाथीवानके (महावतके) मधुर गीतो के शब्द सुननेमे आसक्त होकर अपने कुलसे भ्रष्ट होगई थी, उसका शरीर सब कोढ़से भर गया था और मरकर उसे नरकके अनेक दुःख भोगने पड़े थे। इसप्रकारके महापुरुष लोग भी विषके समान केवल एक एक इंद्रियके

विषयोंसे नष्ट हो गये थे फिर पांचों इंद्रियोंके विषयोंकी अभिलाषा करने-वालोंकी तो बात ही क्या है ? इसप्रकार आस्रवके दोषोंका चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इसतरह चिंतवन करनेसे क्षमादि धर्म ही कल्याणकारी जान पड़ते है और फिर उनसे अपनी बुद्धि कभी नहीं हटती। ये आस्रवके सब दोष कच्छपके समान इंद्रियोका निरोध करनेवालोके नहीं होते है। इस प्रकार आस्रव अनुप्रेक्षाका वर्णन किया।

आगे संवरानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं—आस्रवका रोकना ही संवर है। जिसप्रकार कोई वैश्य महासागरमे चलते हुए जहाजके छिद्रोको या पानी आनेके मार्गको बंदकर फिर निर्विघ्न रीतिसे देशांतर पहुंचता है उसीप्रकार मुनिराज भी संसाररूपी महासागरमे पड़े हुए शरीररूपी जहाजके कर्मरूपी जल के आनेके कारण ऐसे इंद्रियोके विषयरूपी द्वारोको तपश्चरणके द्वारा बंदकर निर्विघ्न रीतिसे मोक्षरूपी महानगरमे पहुंच जाते है। इसप्रकार संवरके गुणोंका चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा है। इसप्रकार चिंतवन करनेसे संवरमे सदा सावधानी और तत्परता रहती है। इसप्रकार संवरानुप्रेक्षाका वर्णन किया।

आगे निर्जरानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं—कर्मोका एकदेश नष्ट होना निर्जरा है। यह भी उदय और उदीरणाके भेदसे दो प्रकारकी है। नरकादि गतियोमे कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते है उसको उदयसे होनेवाली निर्जरा कहते है और परिषहोके जीतने वा तपश्चरण आदिसे जो कर्म विना फल दिये हुए नष्ट हो जाते है, वह उदीरणासे होनेवाली निर्जरा कहलाती है। वह निर्जरा भी दो प्रकारकी है, एक वह कि जिससे शुभ कर्मोका बंध हो और दूसरी वह जिससे किसी कर्मका बंध न हो। इसप्रकार निर्जराके गुण दोषोंका चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इसप्रकार इस अनुप्रेक्षाके चिंतवन करनेसे कर्मोकी निर्जरा करनेमे प्रवृत्ति होती है। इसप्रकार निर्जरा-नुप्रेक्षाका वर्णन किया।

आगे लोकानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं—जो जीवादि समस्त पदार्थोंका आधार है वह लोक कहलाता है। यह आकाश सब ओरसे अनंतानंत है और अपने ही आधार है। आकाशका अन्य कोई आधार नहीं है। उसी आकाश के अत्यंत मध्यवर्ती प्रदेशोंमे यह लोक विराजमान है। यह लोक तनुवात घनवात और घनोदधिवातसे घिरा हुआ है अर्थात् लोकके चारों ओर घनोदधिवात है उसके चारों ओर घनवात है, उसके चारो ओर तनुवात है और उसके चारों ओर आकाश है। उस लोकाकाशके मध्यमे त्रसनाडी है उसके मध्यभागमें यहां मेरु पर्वत है। मेरुपर्वतके नीचे नरकोंके प्रस्तार है तथा मेरु के चारों ओर शुभ नामोंको धारण करनेवाले दूनी दूनी चौड़ाईवाले कंकण के आकारके (असंख्यात) द्वीप समुद्र है। मेरुके ऊपर स्वर्गोके पटल है स्वर्गपटलोंके ऊपर सिद्धक्षेत्र है। इसप्रकार इस लोकके अधोलोक तिर्यक्‌लोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन भेद होते हैं। यह समस्त लोक चौदह राजू ऊंचा है पूर्व पश्चिमकी ओर नीचे सात राजू चौड़ा, मध्यमें एक राजू चौड़ा है ऊपर जाकर फिर पांच राजू चौड़ा है और सबसे ऊपर जाकर एक राजू चौड़ा है। दक्षिण उत्तरकी ओर सर्व जगह सात राजू लंबा है। अधोलोक बेतके आसनके समान ऊपरसे सकरी और नीचेसे चौड़ी तिपाईके समान है मध्यलोक झालरके समान है और ऊर्ध्व लोक मृदंग वा पखावजके समान है। इसके सिवाय यह लोक छह द्रव्योंसे भरा हुआ है अकृत्रिम है और अनादि तथा अनिधन है। इसप्रकार लोकका स्वभाव लोकका परिमाण परिधि और उसका आकार चितवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इसप्रकार इसके मनन करनेसे तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि होती है इसप्रकार लोकानुप्रेक्षाका वर्णन किया।

आगे बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका वर्णन करते है—स्कंध, अंडर, आवास, पुलवि और शरीरोमे स्कंधोकी संख्या असंख्यात लोकमात्र है। एक एक स्कंध मे असंख्यात लोकमात्र अंडर है। एक एक अंडरमे असंख्यात लोक प्रमाण

आवास है। एक एक आवासमे असंख्यात लोक प्रमाण पुलवि है। एक एक पुलविमें असंख्यात लोक प्रमाण शरीर है और एक एक निगोद शरीरमे समस्त अतीत कालमे होनेवाले सिद्धोसे अनंतगुणे जीव है। यह बात अन्य ग्रन्थोमे भी (गोम्मटसारमे) लिखी है–एयणिओय इत्यादि।

अर्थात् "एक निगोद शरीरमें द्रव्यप्रमाणसे जीवोकी संख्या समस्त व्यतीत कालके सिद्धोसे अनंतगुणी है" इसप्रकार यह समस्त लोक स्थावर जीवोंसे सदा भरा रहता है। जिसप्रकार बालूके समुद्रमे पड़े हुए हीराके कणो का मिलना अत्यंत कठिन है इसीप्रकार इन स्थावर जीवोमेसे त्रसपर्याय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। त्रसपर्यायमें भी विकलेंद्रियोकी संख्या बहुत है इस-लिये जिसप्रकार गुणोमे कृतज्ञता अत्यंत कठिनता से मिलती है उसीप्रकार त्रसोंमें पंचेंद्रिय होना अत्यंत कठिन है। पंचेंद्रियोमे भी पशु हिरण पक्षी सांप आदि तिर्यंचोकी संख्या बहुत है इसलिये जिसप्रकार किसी चौरायेपर (चौ-रस्ते पर) रत्नोंकी राशि मिलना कठिन है उसीप्रकार पंचेंद्रियोंमे मनुष्यभव प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। यदि मनुष्य जन्म मिलकर नष्ट होगया तो जिसप्रकार जिसकी लकड़ी जड आदि सब जलादी गई है ऐसा वृक्ष फिरसे नहीं उग सकता उसीप्रकार मनुष्य जन्मका फिरसे मिलना अत्यंत कठिन है। कदाचित् दुबारा मनुष्य जन्म मिल भी जाय तो जिन्हे हिताहितका कुछ विचार नही है और जो मनुष्योंका आकार धारण करनेवाले पशुओके समान है ऐसे कुदेशोमे रहनेवाले म्लेच्छो की संख्या बहुत है इसलिये जिसप्रकार पत्थरोमे मणिका मिलना सुलभ नहीं है उसीप्रकार किसी सुप्रदेशमे उत्पन्न होना भी सुलभ नहीं है। कदाचित् सुप्रदेशमे भी मनुष्य जन्म प्राप्त होजाय तो भी यह लोक प्रायः पापकर्म करनेवाले जीवोंके समूहों से भरा हुआ है इसलिये जिसप्रकार वृद्धोंकी सेवा न करनेवालोके विनयका प्राप्त होना कठिन है उसीप्रकार अच्छे कुलमे जन्म लेना बहुत ही कठिन है। अच्छा कुल मिलने पर भी प्रायः जीवोंकी जाति ही शील विनय आचार संपदा देनेवाली होती

है। यदि कदाचित् कुल संपदा आदि प्राप्त भी होजाय तो दीर्घ आयु, इंद्रिय, बल, रूप और नीरोगता आदि प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उन समस्त संयोगके प्राप्त होने पर भी यदि सद्धर्म धारण करनेका लाभ न हो तो जिस प्रकार विना नेत्रोंके मुखमंडल व्यर्थ है उसीप्रकार उसका मनुष्य जन्म लेना भी व्यर्थ ही है। यदि वही अत्यंत दुर्लभ सद्धर्म जिस तिसतरहसे प्राप्त हो जाय और फिर भी वह जीव विषय सुखमें निमग्न रहे तो जिसप्रकार कोयला भस्मके लिये चंदन का जलाना व्यर्थ है उसीप्रकार उसका सद्धर्म प्राप्त होना भी निष्फल है। जो विषयसुखोंसे विरक्त हो गया है उसके लिये भी तपश्चरणकी भावना, धर्मकी प्रभावना और सुखमरण अर्थात् समाधिमरण रूप समाधि का ध्यानकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। इन सब सामग्रियोंके मिल जानेपर भी रत्नत्रयका प्राप्त होजाना ही सफल गिना जाता है इस-प्रकार चिंतवन करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है। इसप्रकार इसके चिंतवन करनेसे रत्नत्रयको पाकर फिर कभी प्रमाद नहीं होता है। इसप्रकार बोधि-दुर्लभत्वानुप्रेक्षाका वर्णन किया।

स्वरूप कहा गया है वह सब सत्य है वह कभी अन्यथारूप नहीं हो सकता" इसप्रकार सम्यग्दर्शनका स्वभाव होनेसे वास्तविक तत्त्वका चितवन करना आज्ञाविचय नामका नौवां धर्म्यध्यान है ।

आगे हेतु विचयका स्वरूप कहते है । आगममे किसी तरहका विरोध आनेपर जो पुरुष विशेष विशेष नयोंकी मुख्यता और गौणतासे प्राप्त हुए अत्यंत कठिन स्याद्वादके द्वारा उस विरोधका प्रतीकार करता है तथा न्याया-नुसार ही जिसकी रुचि है ऐसा पुरुष अपने मतके विशेष गुण और परमतके विशेष दोषोको अच्छीतरह समझकर जहां गुणोकी अधिकता हो वही श्रद्धान करना उसीको मानना कल्याणकारी है इसप्रकार तीर्थंकरके कहे हुए स्या-द्वाद स्वरूप आगममे पूर्वापर अविरोधरूप हेतुओके ग्रहण करनेकी सामर्थ्यसे उसमे रहनेवाले गुणोका बार-बार चिंतवन करना हेतुविचय नामका दशवां धर्म्यध्यान है ।

ये सब तरहके धर्म्यध्यान पीत पद्म और शुक्ललेश्याके बलसे होते हैं चौथे गुणस्थानसे लेकर सराग गुणस्थानतक होते है । द्रव्य भावरूप सातो प्रकृतियोके (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ) क्षय होनेके कारण है सातवे अप्रमत्त गुणस्थानतक होते है और अन्तर्मुहूर्ततक ही होते है, फिर बदल जाते है, परोक्षज्ञानके गोचर होनेसे क्षायोपशमिक भी है, स्वर्गमोक्षरूप फल देनेवाले है और बाकी की मोहनीय कर्मकी इकईस प्रकृतियोके क्षय होनेके निमित्त कारण है ।

शुक्लध्यानके दो भेद है एक शुक्ल और दूसरा परमशुक्ल । उसमें भी शुक्लध्यान भी दो प्रकारका है एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कावीचार । परमशुक्ल भी दो प्रकारका है—एक सूक्ष्मक्रियाप्रति-पाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति । इस समस्त शुक्लध्यानका लक्षण भी दो प्रकारका है—एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक । शरीर और नेत्रो को परिस्पंद रहित रखना, जंभाई जंभा उद्गार आदि नहीं होना, प्राण-

पानका प्रचार व्यक्त न होना अथवा प्राणापानका प्रचार नष्ट हो जाना और किसीके भी द्वारा जीता न जाना बाह्य शुक्लध्यान है। यह बाह्य शुक्ल-ध्यान अन्य लोगोको अनुमानसे जाना जा सकता है तथा जो केवल आत्मा को स्वसंवेद्य हो वह आध्यात्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है। नानात्व अथवा अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं। द्वादशांग श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। अर्थ, व्यंजन और योगोंकी संक्रांतिको वीचार कहते है। किसी पदार्थके नामको व्यंजन कहते है और उस व्यंजनके विषयभूत पदार्थको अर्थ कहते है। मन वचन कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोंके परिस्पंदनको योग कहते हैं। एकसे दूसरेमे बदल जाना संक्रांति है। जिस ध्यानमें द्वादशांग श्रुतज्ञान अर्थ व्यंजन योगोंमें अनेक तरहसे संक्रमण करता है उसको पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं। आगे इसीका खुलासा लिखते हैं। जब यह अनादि कालसे चले आये दीर्घ संसारकी स्थितिरूप महासागर के पार जाने की इच्छा करनेवाला मोक्षार्थी जीव स्वभावसे प्राप्त हुए पुरुषाकारकी सामर्थ्यसे द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणुमेंसे किसी एकका अवलंबनकर (उसका चिंतवनकर) बाकीके समस्त चिंतवनोंको रोक लेता है तथा उसी-समय महासंवर करता है कर्मोकी प्रकृतियों की स्थिति और अनुभागको घटाता है अथवा उन कर्म प्रकृतियोंका उपशम और क्षय करता है बहुतसे कर्मोकी परम निर्जरा करता है मन वचन काय तीनोमेसे किसी एक योगमें स्थित रहता है और श्रुतज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोके प्रकाशकी सामर्थ्यसे अंतर्मुहूर्ततक अनेक नयोकी गहनतामे डूबे हुए किसी एक द्रव्यके गुण वा उसके पर्यायका ध्यान करता है। उसके बाद उस पदार्थसे बदलकर किसी दूसरे पदार्थका चिंतवन करता है अथवा उसी पदार्थके गुण वा पर्यायका संक्रमण करता है। पहिलेके योगसे किसी दूसरे योगपर संक्रमण करता है और एक व्यंजनसे दूसरे व्यंजनपर संक्रमण करता है। एक पदार्थसे दूसरे पदार्थपर एक गुणसे दूसरे गुणपर और एक पर्यायसे दूसरे पर्यायपर तीनों

योगोंके द्वारा संक्रमण करनेसे इस प्रथम ध्यानके व्यालीस भेद हो जाते हैं। वे व्यालीस भेद इसप्रकार हैं—संसारमे जीवादिक छह द्रव्य है। ज्ञान, वर्ण, गतिसहकार, स्थितिसहकार, वर्तना और अवगाहन ये अनुक्रमसे उन द्रव्योके गुण है तथा उनके भेदोंको पर्याय कहते हैं। एक पदार्थसे दूसरे पदार्थपर संक्रमण करनेको अर्थान्तर कहते है। एक गुणसे दूसरे गुणपर संक्रमण करने को गुणांतर कहते है और एक पर्यायसे दूसरे पर्यायपर संक्रमण करनेको पर्यायांतर कहते है इसप्रकार अर्थ अर्थातर गुण गुणांतर और पर्याय पर्यायांतर इन छहोमे तीनों योगोके संक्रमणके द्वारा अठारह भेद होते है। इसीतरह अर्थसे गुण गुणांतर पर्याय पर्यायांतर इन चारोंमें तीनों योगोके संक्रमणके द्वारा बारह भेद होते है तथा अर्थातरसे गुण गुणांतर पर्याय पर्यायांतर इन चारोंमे तीनो योगोके संक्रमणके द्वारा बारह भेद होते है। इसप्रकार सब मिल कर व्यालीस भेद होते है। इसप्रकारका यह प्रथम शुक्लध्यान उपशांत कषायमे रहता है और क्षीण कषायके प्रारंभमे रहता है। यह ध्यान शुक्लतर लेश्या के बलसे होता है और अन्तर्मुहूर्तकालके बाद बदल जाता है। यह क्षायोपशमिक भाव है, प्राप्त हुए अर्थव्यंजन योगोके संक्रमणपूर्वक होता है चौदह पूर्व वा नौ पूर्व धारण करनेवाले उत्तम मुनियोंके द्वारा सेवन (धारण) करने योग्य है और उपशांतकषाय तथा क्षीणकषायके भेदसे स्वर्ग और मोक्ष फल को देनेवाला है।

आगे दूसरे शुक्लध्यानको कहते है। एकके भावको एकत्व कहते हैं। द्वादशांग श्रुतज्ञानको वितर्क कहते है। संक्रमण न करनेको अवीचार कहते हैं। जिस ध्यानमे श्रुतज्ञानके अर्थ व्यंजन योगोंका एकरूपसे ही ध्यान किया जाय, किसी तरहसे अर्थ व्यंजन योगोंका संक्रमण न हो, उसको एकत्व वितर्कावीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान कहते है। यह ध्यान किसी एक योगसे अर्थ गुण पर्यायोंमेंसे किसी एकके चिंतवनमे स्थित रहता है, पहिलेके समान समस्त पूर्वोको धारण करनेवाले उत्तम यतियोंके द्वारा धारण किया जाता

धारण करते हैं उसीसमय उनके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामका शुक्लध्यान होता है। यह ध्यान सामान्य शुक्लध्यानकी अपेक्षा तीसरा है और परम शुक्ल ध्यानकी अपेक्षा पहिला है। परन्तु जब उनका आयु अंतर्मुहूर्त ही रह जाता है और वेदनीय नाम गोत्रकी स्थिति अधिक होती है तब वे केवलिसमुद्‌घात करते हैं। उस समय उन सयोगी भगवानके आत्मोपयोगका अतिशय प्राप्त होता है, कर्मरूपी शत्रुओंको क्षीणकरनेमे वे समर्थ होते हैं, सामायिकरूपी तलवार ही उनको सहायक होती है और वे उस समय एक विशेष क्रिया करते हैं। उस समय उनके महा संवर होता है छोटे छोटे कर्मोको नाश कर डालते है और बाकीके कर्मपरमाणुओंको क्षीण करनेकी स्वाभाविक शक्ति उनमें हो जाती है। उस समय उनके आत्माके प्रदेश पहिले समयमें दंड रूप, दूसरे समयमे कपाटरूप, तीसरे समयमें लोकप्रतररूप और चौथे समयमें लोकपूरण रूप हो जाते हैं इसतरह उनके आत्माके प्रदेश फैल जानेपर फिर उतनेही समयमें उपसंहार रूप हो जाते है अर्थात् पांचवे समयमे लोकप्रतर-रूप, छठे समयमे कपाटरूप, सातवे समयमे दंडरूप और आठवे समयमे शरीर प्रमाण हो जाते हैं।

प्रदेशोंके इन उपसंहार विस्तारमे तीन अघातिया कर्मोकी स्थिति आयुके समान कर लेते हैं। इसप्रकार समुद्‌घात क्रियाको पूर्णकर अपने पहिले शरीरके परिमाणके बराबर होकर अन्तर्मुहूर्तमे ही पहिलेके समान योगोका निरोध करते हैं तथा इसतरह प्रथम परमशुक्ल ध्यानको पूर्णकर उसीसमयमे दूसरे परमशुक्लध्यानका प्रारम्भ करते हैं। इस दूसरे परम शुक्लध्यानमे प्राणापानका प्रचार (श्वासोच्छ्‌वासका चलना) समस्त मन वचन कायके योग और प्रदेशोंका परिस्पंदन आदि क्रियाओंके व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं इसीलिये इसको समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहते हैं। इस ध्यान मे समस्त आस्रवोका निरोध हो जाता है और बाकीके समस्त कर्मोको नाश करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। ऐसे उन अयोगकेवलीके समस्त संसार

के दुःखोकी ज्वालाके स्पर्श तकको नाश करनेवाले और साक्षात् मोक्षके कारण ऐसे समस्त शील और गुण प्रगट हो जाते है। फिर उसीसमय वे अयोगकेवली भगवान ध्यानरूप अग्निके द्वारा समस्त कर्मकलंकरूपी ईंधन को जला डालते है और फिर उनके आत्माका स्वभाव, जिस कनकपाषाणमे से किट्ट कालिमा आदि सब दोष नष्ट हो गए हैं ऐसे स्वच्छ सुवर्णके समान, निर्मल हो जाता है उसके बाद वे फिराये हुए कुम्हारके चाकके समान मोक्ष के लिए पहिलेका प्रयोग होनेसे, जिसका मिट्टीका सब लेप उतर गया है ऐसी तूंबीके समान बंध रहित होनेसे, रेडीके बीजके समान बंधन टूट जानेसे और अग्निकी शिखाके समान ऊपरकी ओर गमन करनेका स्वभाव होनेसे, ऊपरको गमन करते है और लोकके ऊपर जा विराजमान होते हैं। गमन करनेमे धर्मद्रव्य सहायक है और वह लोकाकाशके आगे है नहीं इसलिए वे अलोकाकाशमे नहीं जाते। इसप्रकार ऊपर कहे हुए धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यानका विषय सिद्धातके अनुसार साधारण है इसलिए विषयकी अपेक्षासे तो इन दोनोंमे कोई भेद नहीं है यदि इन दोनोंमे कोई विशेषता है तो यह है कि धर्मध्यान सकषाय परिणामवालोकेहोता है और इसीलिए गलीमे रखे हुए दीपकके समान वह बहुत देरतक किसी एक पदार्थके चिंतवनमे नहीं ठहर सकता, चंचल रहता है तथा शुक्लध्यान वीतराग परिणामवालेके होता है और धर्मध्यानकी स्थितिके समयसे संख्यातगुणा निश्चल ठहरता है इसलिये मणिके दीपकके समान वह एक ही पदार्थमे अर्थात् एक ही पदार्थ के चिंतवनमे ठहर जाता है।

इसप्रकार समस्त पुरुषार्थोको सिद्ध करनेवाला यह बारह प्रकारका तपश्चरण कहा। इसी तपश्चरणसे अनेक ऋद्धियां प्रगट होती है। वे ऋद्धियां बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्रके भेदसे आठ प्रकारकी है। बुद्धि ज्ञानको कहते है इसलिए ज्ञानविषयक ऋद्धियोंको बुद्धिमहर्द्धि कहते है। उस बुद्धि ऋद्धिके नीचे लिखे अठारह भेद है। केवल-

ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारित्व, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरास्वादनसामर्थ्य, दूरस्पर्शनसामर्थ्य, दूरघ्राणसामर्थ्य, दूरदर्शनसामर्थ्य, दूरश्रवणसामर्थ्य, दशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टांगमहानिमित्तज्ञता, प्रज्ञाश्रवणत्व, प्रत्येकबुद्धिता और वादित्व। द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव तथा इंद्रियोके कर्म और व्यवधानके बिना एक साथ एक ही समयमें भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनो कालोके समस्त द्रव्य गुण पर्यायरूप पदार्थोको प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान कहलाता है। जो अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, रूपी पदार्थ ही जिसका विषय है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके द्वारा जिसके प्रत्येक भेदकी सीमा नियत है ऐसा देशावधि, परमावधि और सर्वावधिके भेदसे तीनप्रकारका अवधिज्ञान है। मनःपर्ययज्ञान मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होता है रूपी द्रव्यके अनन्तवें भाग जिसका विषय है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके द्वारा जिसका प्रत्येक भेद जाना जाता है ऐसा ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारका मनःपर्ययज्ञान है। जिसप्रकार किसी उपजाऊ भूमिके अच्छे जोते हुए खेतमें अच्छे समयपर बोया हुआ एक ही बीज अनेक करोड़ बीजों को उत्पन्न कर देता है उसीप्रकार नोइन्द्रियावरण श्रुतज्ञानावरण और वीर्यातराय कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर किसी एक ही पदका ग्रहण कर लेनेसे अनंत लिंगोके साथ साथ अनंत अर्थोसे भरे हुए संख्यात शब्दोंके अनेक अर्थोका ज्ञान हो जाता है आत्माकी ऐसी शक्तिको बीजबुद्धि नाम की ऋद्धि कहते है। जिसप्रकार किसी कोठेमे भरे हुए नाश न होनेवाले भिन्न २ बहुतसे धानोके बीजोंका समूह उस कोठेमे भरा रहता है उसीप्रकार दूसरोके उपदेशसे धारण किए हुए भिन्न भिन्न बहुतसे अर्थ ग्रन्थ और बीजो के समूह बुद्धिरूपी कोठेमे भरे रहते है। आत्माकी ऐसी शक्तिको कोष्ठबुद्धि कहते है।

पादानुसारित्वके तीन भेद है—प्रतिसारी, अनुसारी और उभयसारी।

बीजोंके पदोंमें रहनेवाले चिह्नोंके द्वारा उस बीजपदके नीचे नीचेके पदोंको जान लेना प्रतिसारी है। ऊपर ऊपरके पदोंको जान लेना अनुसारी है। तथा दोनों ओर रहनेवाले पदोंको नियमित अथवा अनियमित रीतिसे जान लेना उभयसारी है। इसप्रकार दूसरेसे किसी एक पदके अर्थको सुनकर उस ग्रंथके आदि अंत मध्यका अर्थ धारण कर लेना अथवा समस्त ग्रन्थका अर्थ धारण कर लेना पदानुसारित्व नामकी ऋद्धि है। बारह योजन लम्बे नौ योजन चौड़े चक्रवर्तीकी सेना ठहरनेके स्थानमें हाथी, घोड़े, गधे, ऊंट और मनुष्य आदिकोंके अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक ऐसे अनेक तरहके मिले हुए शब्द एक साथ उत्पन्न होते हैं उन सबको जो विशेष तपश्चरणका बल प्राप्त होनेसे समस्त जीवोंके प्रदेशोंमें उत्कृष्ट श्रोत्रेंद्रियका परिणाम प्राप्त होता है उससे एक ही कालमें ग्रहण कर लेना तथा उन सबको प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाना संभिन्नश्रोतृत्व नामकी ऋद्धि है। तपश्चरणकी विशेष शक्ति उत्पन्न होनेके कारण जिन्हें रसनेंद्रियावरण श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतरायका असाधारण क्षयोपशम प्राप्त हुआ है तथा अंगोपांग नाम कर्मका लाभ प्राप्त हुआ है ऐसे मुनिराजके रसनेन्द्रियका विषय जो नौ योजन क्षेत्र तक निश्चित है उसके बाहर अनेक योजनकी दूरीवाले क्षेत्रसे आये हुए रसके आस्वादन करनेका सामर्थ्य उत्पन्न होना दूरास्वादन सामर्थ्य नामकी ऋद्धि है। इसीप्रकार स्पर्शनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, नेत्रेंद्रिय और श्रोत्रेंद्रिय का विषय जितने दूर क्षेत्र तक नियत है उससे बाहर बहुतसे योजन दूर देश से आये हुए स्पर्श, गंध, रूप और शब्दोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न होना अनुक्रमसे दूरस्पर्शनसामर्थ्य, दूरघ्राणसामर्थ्य, दूरदर्शनसामर्थ्य और दूरश्रवण सामर्थ्य नामकी ऋद्धियां है।

इस संसारमें रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओंकी अधिष्ठात्री देवता है और अनुगत अंगुष्ठ प्रदेशन आदि सातसौ क्षुल्लक विद्याओंकी अधिष्ठात्री देवता है। वे सब देवता अपने रूपकी सामर्थ्य प्रगट करने और

कथन करनेमे अत्यंत कुशल है तथा उनका वेग अत्यंत तीव्र है ऐसे देवताओंके आनेपर भी जिनका चारित्र विचलित नही होता ऐसे मुनिराजके दशपूर्व-रूपी अथाह समुद्रको पारकर देनेवाली (दशपूर्वका ज्ञान उत्पन्न करानेवाली) दशपूर्वित्व नामकी ऋद्धि है। इसीप्रकार श्रुतकेवलीके चतुर्दशपूर्वित्व नाम की ऋद्धि होती है। आगे अष्टांग महानिमित्त ऋद्धिको कहते है। अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठप्रकारके महा निमित्त कहलाते है। उनमे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि नक्षत्रोंके उदय अस्त होने आदिसे अतीत अनागत फलका कोईसा भी भाग जान लेना आंतरिक्ष नामका निमित्तज्ञान है। पृथ्वीके घन (कठिन) सुषिर (पोला) स्निग्ध रूक्ष (रूखा चिकना) आदि होनेवाले परिणामसे अथवा पूर्व पश्चिम आदि दिशाओमें सूत रखकर वृद्धि-हानि, जय-पराजय आदिका ज्ञान होना अथवा भूमिके भीतर रखे हुए सोना-चांदी आदि पदार्थोका जान लेना भौम नामका निमित्तज्ञान है। तिर्यंच मनुष्योका स्वभाव, वात, पित्त आदि प्रकृति, रस रुधिर आदि धातु, शरीरका वर्ण गंध, नीचाई, ऊंचाई, अंग, प्रत्यंगका देखना छूना आदिके द्वारा भूत भविष्यत वर्तमान तीनो कालोंमे होनेवाले सुख दुःखादिकोंको जान लेना अंग नामका निमित्तज्ञान है। स्त्री, पुरुष, गधा, सांप, उल्लू, बंदर, कौआ, बकरा, गीदड़ आदि जीवोंके अक्षरा-त्मक तथा अनक्षरात्मक शुभ अशुभ शब्दोको सुनकर इष्ट अनिष्ट फलोको प्रगट करनेवाला स्वर नामका निमित्तज्ञान है। मस्तक मुंह और ग्रीवा (गरदन) आदि स्थानोमे तिल मस्सा वा अन्य कोई चिन्ह अथवा घाव आदि देखकर तीनो कालोंका हिताहित जानना व्यंजन नामका निमित्तज्ञान है। हाथकी हथेली पांवके तलवे और वक्षःस्थल छाती आदि शरीरके अंगो मे श्रीवृक्ष स्वस्तिक (सांथिया) भृंगार वा झारी कलश (घड़ा) और वज्र आदिके लक्षण देखकर तीनो काल सम्बन्धी स्थान मान ऐश्वर्य आदि जान लेना लक्षण नामका निमित्तज्ञान है। वस्त्र, शस्त्र, उपानत् (जूता) आसन

शयन शस्त्र कांटा चूहे आदिके द्वारा छिद्र होना देखकर तीनकाल सम्बन्धी लाभ हानि सुख-दुःख आदि जान लेना छिन्न नामका निमितज्ञान है। वात पित श्लेष्माके उदयसे रहित मनुष्यके रात्रिके पिछले भागमे चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत समुद्र मुखप्रवेशन (किसी बैल आदिका मुखमे प्रवेश करना) समस्त पृथ्वी मंडलका छिपना आदि शुभ स्वप्न दिखाई दे अथवा घी तेलसे मर्दन किया हुआ अपना शरीर, गधा अथवा ऊंटपर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर गमन करना आदि अशुभ स्वप्न दिखाई दें तो उन्हे देखकर वा जानकर आगामी कालमे जीवित रहने मरने वा सुख-दुःखादिकको प्रगट करने वाला स्वप्न नामका निमित्त ज्ञान है। वह स्वप्न नामका निमित्त-ज्ञान छिन्न और माला के भेद से दो प्रकार का है। हाथी सिंह का बच्चा आदि का देखना छिन्न है और पूर्वापर संबंध रखने वाले पदार्थो का देखना माला है। इन महानिमित्तो में कुशल होना अष्टांग महा-निमित्तज्ञता नामकी ऋद्धि है। जो मुनि चौदह पूर्वोमे कहे हुए अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोमे रहनेवाले तत्वोंके (उनमे रहनेवाले भावो) विचार करने योग्य गहन विषयोमे उपयुक्त न हो और उसी विषयको कोई पूछे तथा द्वादशांग और चौदह पूर्व उन्होंने पढे भी न हों तो भी श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मोका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेके कारण बुद्धिकी असाधारण शक्तिका लाभ प्रगट होनेसे उसका संशय दूर करदेना प्रज्ञाश्रवणत्व नामकी ऋद्धि है। वह प्रज्ञा औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकीके भेदसे चार प्रकारकी है। उनमेसे जो प्रज्ञा जन्मांतरके विनयसे उत्पन्न हुए संस्कारोसे प्रगट होती है उसको औत्पत्तिकी कहते है। विनयपूर्वक द्वादशांग पढ़नेसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह वैनयिकी प्रज्ञा है। अत्यंत घोर तपश्चरण की सामर्थ्यसे गुरु के उपदेश के बिना उत्पन्न हुई प्रज्ञा कर्मजा कहलाती है। अपनी-अपनी जाति विशेष से उत्पन्न हुई प्रज्ञा परिणामिकी कहलाती है। इसप्रकार प्रज्ञाश्रवणत्व ऋद्धिका स्वरूप समझना चाहिए। परोपदेशके बिना केवल अपनी विशेष शक्तिसे ही ज्ञान और संयमके भेद

प्रभेदोंमें निपुणता प्राप्त होना प्रत्येक बुद्धिता नामकी ऋद्धि है। यदि इंद्रादिक भी आकर अपना विरोधी बना हो तथापि अपनी अपनी बुद्धि और प्रतापके द्वारा उसे निरुत्तर कर देना तथा उसके दोषोंको ढूंढ निकालना वादित्व नामकी ऋद्धि है। इस प्रकार बुद्धि नामकी ऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे क्रिया ऋद्धिको कहते हैं—क्रिया ऋद्धि दो प्रकारकी है—एक चारणत्व ऋद्धि और दूसरी आकाशगामित्व ऋद्धि। उनमेंसे जल, जंघा, तंतु, पुष्प, पत्र, बीज, श्रेणी और अग्निकी शिखा आदिका सहारा लेकर गमन करना चारण ऋद्धि है और वह ऊपर लिखे सहारोंके भेदोंसे ही अनेक तरहकी हो जाती है। बावड़ी तालाब और जलाशयोंमे भी अपकायिक जीवोंकी विराधना न करते हुए भूमिके समान पैरोंको उठाने रखनेकी कुशलता प्राप्त हो जाना जलका सहारा लेनेवाली जलचारण ऋद्धि है। भूमिके ऊपर चार अंगुल ऊंचे आकाशमें जंघाचारण ऋद्धिवाले चलते हैं वे अपनी जंघाओंको बड़ी शीघ्रताके साथ उठाने रखनेमें चतुर होते हैं और सैकड़ों योजन तक बड़ी शीघ्रतासे पहुंच जाते हैं। इसीप्रकार और क्रिया ऋद्धिवाले भी समझ लेने चाहिए। आकाशगामिनी ऋद्धिको धारण करने वाले मुनि पर्यंक आसनसे बैठकर अथवा अन्य किसी आसनसे बैठकर कायोत्सर्ग शरीरको धारणकर पैरोंको उठाकर रखकर भी आकाशके ऊपर गमन करनेमे निपुण होते है अथवा बिना पैरोंको उठाये रखे भी आकाशगमन करनेमें निपुण होते है। इसप्रकार क्रिया ऋद्धिका वर्णन किया।

अब आगे विक्रिया ऋद्धिको कहते हैं—विक्रिया ऋद्धिके अनेक भेद हैं और अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूपित्व आदि उनके नाम है। छोटा शरीर बनानेकी शक्तिको अणिमा कहते हैं। अणिमा ऋद्धिको धारण करने वाला कमलनालके छिद्रमे भी प्रवेशकर सकता है और वहीं पर चक्रवर्तीके

परिवारकी विभूतिको उत्पन्न कर सकता है। मेरु पर्वतसे भी बड़ा शरीर बनानेकी शक्तिको महिमा कहते हैं। वायुसे भी हल्के शरीर बनानेकी शक्तिको लघिमा कहते है। वज्रसे भी भारी शरीर बनानेकी शक्तिको गरिमा कहते है। पृथ्वीपर ठहरकर भी उंगलीके अग्रभागसे ही मेरु पर्वत का शिखर अथवा सूर्य आदिको छूनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाना प्राप्ति है। पानीमें पृथ्वीके समान चलनेकी शक्ति होना तथा पृथ्वीपर पानीके समान उछलने डूबनेकी शक्ति होना प्राकाम्य है। कोई कोई आचार्य अनेक तरह की क्रिया गुण वा द्रव्यके आधीन होनेवाले सेना आदि पदार्थोंको अपने शरीरसे भिन्न अथवा अभिन्नरूप बनानेकी शक्ति प्राप्त होनेको प्राकाम्य कहते हैं। तीनों लोकोंका प्रभाव प्राप्त हो जाना ईशित्व है। समस्त जीवों को वश करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाना वशित्व है। पर्वतके भीतर होकर आकाशके समान गमन करनेकी शक्तिको अप्रतिघात कहते है। अदृश्यरूप हो जानेकी शक्तिको अन्तर्धान कहते हैं। एकही साथ अनेक आकार अथवा अनेकरूप बनानेकी शक्तिको कामरूपित्व कहते हैं अथवा अपनी इच्छानुसार अपने शरीरको बार बार एक मूर्त पदार्थके आकाररूप परिणत करनेकी शक्ति कामरूपित्व कहलाती है। इसप्रकार विक्रिया ऋद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे तप ऋद्धिको कहते हैं। उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, घोरपराक्रम और घोरब्रह्मचर्य अथवा अघोरगुणब्रह्मचारी ये ७ प्रकारकी तपोतिशय ऋद्धियां होती है। इनमे उग्रतप नामकी ऋद्धि भी उग्रोग्रतप और अवस्थितोग्र तपके भेदसे दो प्रकारकी है। कोई मुनि एक उपवासकर पारणा करें फिर दो उपवासकर पारणा करे फिर तीन उपवास कर पारणा करे इसप्रकार उत्तरोत्तर एक एक अधिक उपवास अपने जीवन पर्यंत तक करते रहे तथा मन वचन काय तीनों गुप्तियोको बराबर पालन करते रहें उनके उग्रोग्रतप नामकी ऋद्धि समझनी चाहिए। दीक्षा लेते

समयका उपवासकर पारणा करें फिर उपवास पारणा उपवास पारणारूपसे बराबर करते रहें। फिर कुछ दिनतक दो उपवास पारणारूपसे करते रहे फिर तीन उपवास पारणारूपसे करते रहे इसप्रकार छह उपवास तक पहुंच जांय। छह २ उपवासके बाद पारणाका अभ्यास हो जानेपर आठ २ उपवास और फिर पारणा करते रहे फिर अनुक्रमसे दश दश फिर बारह २ उपवासके बाद पारणा करते रहे इसप्रकार करते हुए जीवन पर्यततक आचरण करते रहे बीचमे किसी भी समय अपने चलते हुए उपवासकी संख्या कम न करे उनके अवस्थितोग्रतप नामकी ऋद्धि समझनी चाहिए। अनेक बड़े २ उपवास करने पर भी जिनके मन वचन कायका बल सदा बढ़ता रहता है, जिनका मुंह सदा दुर्गंध रहित रहता है जिनका निःश्वास कमलके पुष्पके समान सुगंधित रहता है और जिनके शरीरकी महाकांति प्रतिदिन बढती ही जाती है कभी घटती नहीं उनके दीप्त तप नामकी ऋद्धि कही जाती है जिसप्रकार तपायी हुई लोहेकी कढ़ाईमे पड़ी हुई जलकी एक बूंद शीघ्रही सूख जाती है उसीप्रकार अल्पाहार ग्रहण करनेसे जिनके भोजन करनेपर भी वह अन्न मल रुधिर आदि धातु उपधातुरूप परिणत नहीं होता उनके तप्ततप नामकी ऋद्धि समझनी चाहिए अथवा जो अणिमा आदि तथा जलचारण आदि आठो गुणोसे परिपूर्ण है, जिनके शरीरकी प्रभा देदीप्यमान हो रही है, जो अनेक तरहकी अक्षीण ऋद्धियोको धारण करनेवाले है, समस्त औषधि रिद्धियां जिन्हे प्राप्त है जिनके पाणिपात्रपर (हाथपर) आया हुआ सब तरहका आहार अमृतरूप हो जाता है जिनके देवोके सब इन्द्रोंसे भी अनन्तगुणा बल है और जो आशीविष दृष्टिविष रिद्धियोको धारण करनेवाले है उनके तप्ततप नामकी रिद्धि समझनी चाहिए। जो समस्त विद्याओंको धारण करनेवाले है तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानसे जो तीनोलोकोके समस्त व्यापारोको जानते है उनके महातप नामकी रिद्धि है। वात, पित्त, श्लेषमाके सन्निपातसे उत्पन्न हुए

ज्वर, कास, नेत्र शूल, कोढ, प्रमेह आदि अनेक तरहके रोगोंसे जिनका शरीर संतप्त हो रहा हैं तथापि जिन्होंने अनशन आदि तपश्चरणोंको नहीं छोड़ा है। अनशन तपश्चरणमें जो छह छह महीनेका उपवास करते हैं अवमौदर्य तपश्चरणमें जो केवल एक कवलका (एक ग्रास वा गस्सा) आहार लेते है, वृत्तिपरिसंख्यान तपश्चरणमे जो आहारके लिए केवल चार घर तक ही जाते हैं। रसपरित्यागमे जो गर्म जलसे धोये हुए चांवलोंका ही आहार लेते हैं, विविक्त शय्यासनमें जो भयानक श्मसान, पर्वतोंकी गुफा दरी कंदरा वा सूने गावोंमें निवास करते हैं अथवा जहांपर अत्यंत दुष्ट यक्ष राक्षस पिशाच आदि प्रेत वेताल आदिका विकृतरूप धारणकर नृत्य कर रहे हैं जहां गीदड़ रो रहे हैं सिंह बाघ भरे हुए हैं तथा गरज रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं अन्य घातक जानवरोंके भीषण शब्द हो रहे हैं और चोर डाकू आदि फिर रहे है ऐसे भयानक और एकान्त स्थानमें रुचिपूर्वक निवास करते हैं। कायक्लेश तपश्चरणमें जो अत्यन्त तीव्र शीत पड़नेवाले प्रदेशोंमे खुले मैदानमे निवास करते है अत्यन्त तीव्र उष्णतावाले प्रदेशोंमें योग धारण करते हैं। इसीप्रकार जो अभ्यंतर तपश्चरणोंमें भी विशेष समस्त तपश्चरणोंको उत्कृष्ट रीतिसे पालन करते है उनके घोर तप नामकी ऋद्धि समझनी चाहिए वे ही घोर तप ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि जो ग्रहण किये हुए तपोयोगको बढ़ानेमें तत्पर है जिनमे तीनों लोकोंको उपसंहार करने, समस्त पृथ्वीमंडलको ग्रास करने, समस्त महासागरोंसे जलको सोखने, जल, अग्नि, शिला और पर्वत आदिकी वर्षा करनेकी शक्ति है उनके घोरपराक्रम नामकी ऋद्धि कही जाती है। जिन्होंने बहुत दिन तक कभी स्खलित न होने वाले ब्रह्मचर्यमें निवास किया है और चारित्रमोहनीय कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेके कारण जिनके दुःस्वप्न सब नष्ट हो गये है वे घोर ब्रह्मचारी गिने जाते हैं। अथवा इस ऋद्धिको धारण करनेवाले का नाम अघोरगुण ब्रह्मचारी भी है। अघोर शांतको कहते है जिनका

ब्रह्मचारित्र शांत है उनको अघोरगुण ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे मुनि शांति और पुष्टिके कारण होते हैं इसीलिए जिनके तपश्चरणके माहात्म्यसे उग्र ईति मारी दुर्भिक्ष वैर कलह वध बंधन और रोग आदिको शांत करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाय उन्हें अघोरगुण ब्रह्मचारी कहते हैं। इसप्रकार तपोऋद्धिका वर्णन किया।

आगे बल ऋद्धिको कहते हैं—मन वचन कायके भेदसे बल तीनप्रकारका है इसलिए उनके अवलम्बनसे यह ऋद्धि भी तीन प्रकारकी है। श्रुतज्ञानावरण और वीर्यातराय कर्मके क्षयोपशमकी उत्कृष्टता होनेपर बिना किसी खेदके अन्तर्मुहूर्तमे ही समस्त श्रुतज्ञानके पदार्थोके चितवन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होना मनोबल नामकी रिद्धि है। मन नोइंद्रियावरण जिह्वेंद्रियावरण श्रुतज्ञानावरण और वीर्यातराय कर्मोका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेपर अन्तर्मुहूर्तमें ही समस्त श्रुतज्ञानके पद वाक्योंके उच्चारण करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होना तथा सदा ऊंचे स्वरसे उच्चारण करनेपर भी किसी तरहका परिश्रम न होना और कंठ मंद न होना वाग्बल नामकी रिद्धि है। वीर्यातराय कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम होनेके कारण जो असाधारण शारीरिक बल प्रगट होता है उस शारीरिक बलसे एक महीने, चार महीने और एक वर्ष आदिका प्रतिमा योग धारण करने पर भी जिनके किसी तरहका श्रम और क्लेश नहीं होता तथा जिनमे तीनों लोकोंको भी हाथकी छोटी उंगली से उठाकर किसी दूसरी जगह स्थापन करने की सामर्थ्य होती है उनके कायबल ऋद्धि कही जाती है। इसप्रकार बलऋद्धिका वर्णन किया।

आगे औषधि ऋद्धिको कहते है। औषधि ऋद्धि आठप्रकार है— आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विट्, सर्वौषधि, आस्यविष और दृष्टचविष उसके नाम हैं। इन ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनियोके आमर्श आदि संसार के समस्त असाध्य रोगोंको भी दूर कर देते है। आमर्श स्पर्शका नाम है जिनके हाथ पैर आदिका स्पर्शही सब तरहकी औषधियोंको प्राप्त होजाता है

अर्थात् उसीसे सब रोग दूर हो जाते हैं वे मुनि आमर्शौषधि नामकी ऋद्धि को धारण करनेवाले हैं। क्ष्वेल थूकको कहते हैं यह शब्द यहांपर उपलक्षण है थूकसे श्लेष्मा लाली (लार) विप्रुट (पसीनेकी बूंद) सिंहाणक (नाक का मल) आदि सब लेने चाहिए जिनके थूक लार नाक का मल पसीना आदि सब, सब तरह की औषधिरूप परिणत हो जांय उनके क्ष्वेलौषधि ऋद्धि समझनी चाहिए। पसीना आनेसे जो शरीरपर धूल वा मैल जम जाता है उसको जल्ल कहते हैं। जिनके शरीरका वह (पसीनेका) मैल ही सब तरहकी औषधिरूप हो जाय वे मुनि जल्ल ऋद्धिको धारण करनेवाले कहे जाते हैं। जिनके कान नाक दांत आदिसे उत्पन्न हुआ मल ही औषधि रूप हो जाय वे मलौषधि नामकी ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। विट् उच्चार अथवा शुक्र और मूत्रको कहते हैं जिनका शुक्र मूत्र ही औषधिका काम दे वे विडौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। जिनके अंग प्रत्यंग नख दंत केश आदि शरीरके अवयव अथवा उन अवयवोंको स्पर्श करनेवाली वायु ही समस्त औषधियों का काम दे वे सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। उग्र विषसे मिला हुआ भी आहार जिनके मुखसे जानेपर विषरहित हो जाय अथवा जिनके वचनोंको सुनकर महाविषसे डूबे हुए मनुष्य भी विषरहित हो जाय वे आस्याविष ऋद्धिवाले मुनि कहलाते हैं। जिनके दर्शन करनेमात्रसे ही अत्यन्त तीव्र विषसे दूषित हुए जीव विषरहित हो जाय वे दृष्टचविष ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनि हैं। अथवा जिनके लिए आशीविष भी विष न हो वे आस्यविष ऋद्धिवाले हैं और जिनकी आंखोंमें विष है जिनको देखने से मर जांय ऐसे दृष्टिविष जीवोंका विष भी जिनके लिए विष न हो वे दृष्टचविष ऋद्धि को धारण करनेवाले हैं इसप्रकार औषधि ऋद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ।

उसीसमय महाविषसे दूषित होकर मर जाय ऐसे मुनियोको आस्यविष रिद्धि धारी मुनि कहते है। कोई कोई आचार्य इस ऋद्धिका नाम आशीर्विष रिद्धि कहते हैं इसका भी वही अर्थ है जो ऊपर लिख चुके है क्योकि ऐसे मुनियों के बुरा आशीर्वाद देनेसे ही वह मर जाता है। उत्कृष्ट तपश्चरणवाले मुनि क्रोधित होकर जिसको देख ले वह उसीसमय उग्रविषसे दूषित होकर मर जाय ऐसे मुनि दृष्टिविष ऋद्धिधारी कहलाते है। जिनके हाथ पर रखा हुआ नीरस भोजन भी दूधकी शक्तिवाला हो जाय अथवा जिनके वचन दूध के समान दुर्बल और कृश मनुष्योंको संतुष्ट कारक हों, वे क्षीरास्रावी ऋद्धि वाले गिने जाते है। जिनके हाथ पर रखा हुआ नीरस आहार भी मधुर रसकी शक्तिवाला (मीठा पुष्टिकारक) हो जाय अथवा जिनके वचन सुननेवाले अत्यन्त दुःखी जीवोंको भी मधुर गुणरूप परिणत हो जांय उन मुनियोंको मध्वास्रावी ऋद्धिधारी कहते हैं। जिनके हाथपर आया हुआ रूखा अन्न भी घीके समान रसवाला और शक्तिशाली हो जाय अथवा जिनके कहे वचन घीके समान प्राणियोंको तृप्त करनेवाले हों वे सर्पिरा-स्रावी ऋद्धिधारी मुनि हैं। जिनके हाथ पर आया हुआ कुछ भी भोजन अमृतके समान वा अमृतरूप हो जाय अथवा जिनके कहे हुए वचन अमृतके समान प्राणियोंका उपकार करे वे अमृतास्रावी ऋद्धिधारी मुनि हैं। इस-प्रकार रसऋद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे क्षेत्ररिद्धिको कहते है। क्षेत्ररिद्धिको प्राप्त होनेवाले मुनि दो प्रकारके है---एक अक्षीणमहानस और दूसरे अक्षीणमहालय। लाभांतराय कर्मका उत्कृष्ट क्षयोपशम प्राप्त होनेवाले जिन मुनियोंको आहार दिया जाय और उस बचे हुए भोजनमेसे चक्रवर्तीकी सब सेना भी भोजन कर जाय तो भी उस दिन वह भोजन कम न हो ऐसे मुनिराज अक्षीणमहानस रिद्धिको धारण करनेवाले कहलाते हैं। अक्षीणमहालय रिद्धिको धारण करनेवाले मुनि जहां विराजमान हों और वह स्थान चाहे चार हाथ लंबा

चौड़ा ही हो, तो भी उसमें समस्त देव मनुष्य तिर्यञ्च समा जांय परस्पर किसीको बाधा न हो, सब सुखपूर्वक बैठ जांय वे अक्षीणमहालय रिद्धिधारी गिने जाते है। इसप्रकार क्षेत्ररिद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ। ❀

इसप्रकार तपश्चरणकी सामर्थ्य निरूपण की। तपस्वी लोग जिस-जिस स्थानमे निवास करते है वे तीर्थ कहलाते है। तपश्चरणके प्रभावसे परस्पर विरोध रखनेवाले जीव भी अपना जन्मसे उत्पन्न वैर अथवा किसी कारणसे उत्पन्न हुआ वैर छोड़कर अपने हृदयको शांत बना लेते हैं। बहुत कहनेसे क्या ? तपश्चरणसे क्या सिद्ध नहीं होता ? किन्तु सब कुछ सिद्ध हो जाता है यही बात शास्त्रोंमे भी लिखी है--"यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्व तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" अर्थात् जो दूर हो जिसका आराधन करना कठिन हो और जो बहुत दूरपर हो वह सब तपश्चरणसे सिद्ध हो जाता है। इस संसारमे तपश्चरण ही ऐसा है, जिसको कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जिसके तपश्चरण नहीं है वह चंचापुरुषके (केवल पुरुषके आकारके) समान है उसे समस्त गुण तो छोड़ देते ही है परन्तु वह संसारको कभी नहीं छोड़ सकता।

इस संसारमे उपधियोंका (अन्तरंग बहिरंग परिग्रहोंका) त्याग कर देना ही मनुष्यका हित करनेवाला है। जैसा जैसा यह परिग्रहोको छोडता जाता है वैसा ही वैसा इसका संयम बढ़ता जाता है और संयमकी वृद्धि होनेसे इसका खेद दूर होता है। परिग्रहोंका त्याग करना ही इस लोकमे तथा परलोकमे सुख देनेवाला है इसीसे मन सब तरहके दोषोंसे रहित होकर स्थिर होता है और यही परिग्रहका त्याग पुण्यका खजाना है। यह परिग्रह समस्त दोषोको उत्पन्न करनेवाली जबर्दस्त योनि है। जिसप्रकार पानीसे समुद्रकी वड़वानल अग्नि बुझती नही उसीप्रकार इन परिग्रहोंसे यह जीव कभी तृप्त नहीं होता है। लिखा भी है-"अनेकाधेयदुष्पूर आशागर्तश्चिरा-

---

१. बुद्धि १८ क्रिया २ विक्रिया ११ तप ७ बल ३ औषध ८ रस ६ क्षेत्र २ सब मिलकर ६४ ऋद्धियां होती हैं।

दहो । चित्तं यत्क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते" अर्थात् यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह आशारूपी गड्ढा जो कि अनेक दिनोंमें भी संसारमें रहनेवाले समस्त पदार्थोंसे भी नहीं भरा जाता वह एक त्यागसे (समस्त पदार्थों का त्याग कर देनेसे) क्षणमात्रमें भर जाता है । तथा "कः पूरयति दुष्पूरमाशागर्तं दिने दिने । यत्रास्ते प्रस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते" अर्थात् "किसीसे न भरा जानेवाला इस आशारूपी गड्ढेको भला कौन भर सकता है क्योंकि इसमे प्रतिदिन डाला हुआ समस्त आधेय ही आधार बन जाता है भावार्थ—ज्यों ज्यों आशाएं पूर्ण की जाती है त्यो त्यों वे और बढ़ती जाती हैं ।" इसलिए परिग्रहोंका समागम ही इस संसारमे दुःख और भय आदिकों को उत्पन्न करनेवाला है ।

प्राप्त हुए शरीरादिकोंमे संस्कारोंको दूर करनेके लिए "यह मेरा है" ऐसे परिणामोंका अभाव होना आकिंचन्य है । शरीरादिकोंमे ममत्व बुद्धि का अभाव होनेसे परम वैराग्य प्राप्त होता है । जैसा जैसा यह शरीर पुष्ट किया जाता है वैसी वैसी ही इससे लंपटता उत्पन्न होती रहती है और वैसा वैसा ही तपश्चरणमे अनादर उत्पन्न होता रहता है । शरीरादिकोंमे ममत्व रखनेवाले पुरुषके संसारमें भी सदा ममत्व बना ही रहता है ।

"मेरी भोगी हुई स्त्री बड़ी रूपवती थी सब तरहके विलासोंमें निपुण थी और कलागुणोंमें चतुर थी इसप्रकारके स्मरणका त्याग करना, स्त्रियों की कथाओंके सुननेका त्याग करना तथा यह शयन वा आसन उपभोगके समय जिसके शरीरमे अनेक तरहके सुगन्धित पदार्थ लग रहे है ऐसी स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाला है इसप्रकारके पूर्व भोगे हुए उपभोगोके चिंतवनका त्याग करना परिपूर्ण ब्रह्मचर्य कहलाता है । ब्रह्मचर्य पालन करनेवालेको हिंसा आदि कोई भी दोष नहीं छू सकते, गुणरूपी संपदाएं सदा तल्लीन होकर गुरुकुलमे निवास करनेवाले उस ब्रह्मचारीमे ही आकर निवास करती हैं । जो वेश्याओके विलास और हाव-भावोसे दूर रहता है वह पापोंसे भी

बहुत दूर रहता है। संसारमें जितेंद्रिय न होना ही प्राणियोंका अपमान करानेवाला है।

इसप्रकार उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम बृह्मचर्यके गुण तथा इसके प्रतिपक्षियोंके दोषोंका विचार करनेसे क्रोध मान आदि विकारोंका त्याग होजाता है और क्रोधमान आदि विकारों का त्याग होनेसे क्रोधादिके द्वारा आनेवाले कर्मोंके आस्रवका अभाव हो जाता है तथा आस्रवका अभाव होनेसे महान् संवर होता है।

चारों अनुयोगोंके जानकार तथा रणांगणमें सिंहके समान ऐसे वीर महाराजा चामुण्डरायने जिसका वर्णन तत्त्वार्थसूत्र सिद्धांत ग्रंथ और महा पुराण आदि आचार ग्रंथोंमें बड़े विस्तारके साथ कहा है ऐसे चारित्रसारको संक्षेपसे निरूपण किया है।

इसप्रकार समस्त शास्त्र और सयमको धारण करनेवाले श्री मज्जिनसेन भट्टारकके श्रीचरण कमलोके प्रसादसे चारो अनुयोगरूपी महासागरके पार पहुचनेवाले और धर्मके विजयका झंडा उडानेवाले श्रीमच्चामुण्डराय महाराजके बनाये हुए भावनासार संग्रहके अन्तर्भूत चारित्रसारमे मुनि-धर्मका वर्णन समाप्त हुआ ॥